UGC Sponsored

Two Day National Seminar on

"Post-Independence Indian Literature"

Friday, 16th & Saturday, 17th January, 2009

Venue

Thorale Bajirao Peshawe Sabhagruha,
"Jnanadweepa", Thane College Campus,
Chendani Bunder Road, Thane 400 601, (MS), India.

Dr. Shakuntala A. Singh	*Editor-in-chief*
Prof. Damodar Morey	*Editor*
Prof. Anil Dhawale	*Assistant Editor*
Prof. Pramod Kharate	*Assistant Editor*
Prof. Mugdha Kulkarni	*Assistant Editor*

Organized by



Vidya Prasarak Mandal's
K. G. Joshi College of Arts &
N. G. Bedekar College of Commerce, Thane

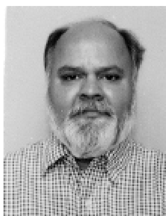
Advisory Committee

STEERING COMMITTEE

Please Note:
The Authors of the papers are alone responsible for technical content of the papers and references cited therein.

Printed at
Perfect Prints
22, Jyoti Industrial Estate,
Nooribaba Darga Road, Thane 400 601.
Tel. : 2534 1291 / 2541 3546
Email : perfectprints@gmail.com

Published by :
Vidya Prasarak Mandal's
K. G. Joshi College of Arts &
N. G. Bedekar College of Commerce, Thane
"Jnanadweepa", Chendani, Bunder Road,
Thane (W) 400 601. Maharashtra
Tel. : 2533 24 12 Fax : 2533 24 12
E-mail: vpm_joshibedekar_office@yahoo.co.in
nbarse@gmail.com
mensanamonographs@yahoo.co.uk
Website : www.vpmthane.org



Chairman's Messsage

I have great pleasure in presenting this volume of papers to be read at the UGC sponsored National Seminar on 'Post-Independence Indian Literature' to be held under the auspices of VPM Arts and Commerce College on 16-17 Jan 2009.

It is our policy to have a National Seminar every year, with two workshops, in an endeavour to promote academic and research excellence. The topic of this year's seminar – post-independence Indian literature — is very important because through literature the entire gamut of sociocultural issues and their intricacies can be creatively expressed.

Literature helps in introspection and promotes self-knowledge, both individual and social, besides creating awareness of pressing social problems. The entire scenario of post-independence India – whether religion or science; economics or culture; women, caste or social hierarchy; mysticism or spiritualism; family, marriage, divorce, sex and gender; social oppression – all these issues have been creatively tackled by post independence Indian writers.

India has a rich linguistic heritage, right from the Vedic period till the modern. The entire range of social, economic, ethical and philosophical problems that concern mankind have been discussed, in the simplest as well as the most complicated manner, in the Upanishads, Ramayana, Mahabharatha, Puranas, Darshanas, Panchatantra, as also in today's literature on modernism, dalit, regional and tribal writings, feminism, contemporary literature and its critique.

It is for us to study and introspect on all these issues. This two-day National Seminar will definitely help the delegates present, as also the thinkers of our society at large, to better understand our past and plan out a brighter future for India and Indian literature.

I wish its deliberations all success.

Vijay Bedekar
Chairman,
Vidya Prasarak Mandal, Thane.



From the Principal's desk

Language and literature are the nerves of our social structure, nerves through which problems of man and society are understood as well as expressed. It's through this medium that civilization, history and culture of humanity are preserved, understood and handed over to subsequent generations. In how rich, strong and varied the literature is, do we understand the gravity and depth of its social structure, and the magnitude of its problems.

India is one of the largest and oldest of countries, with many religions, castes, sub-castes, languages, festivals, food habits etc. As there are many types of social groups, their problems also are multiple. Though we had a rich culture and heritage, after foreign subjugation, there were a variety of social, religious, economical, moral and educational problems. Pre- and post-independent India had to encounter many difficulties in solving varied aspects of these social issues. All these problems were conveyed and expressed in different languages and in different forms of literature — prose, poetry, drama, critiques, satire etc. Again, each social problem got converted into different types of literature as per its potentiality, like *feminism; adivasi, dalit, gramin sahitya*; literature with western influence: of modernization, globalization, industrialization, so on and so forth.

Understanding these different forms of literature is understanding these social problems; or, to put it differently, solving these social problems involves reading, understanding and appreciating these different types of literature.

What happened to India after independence can be well understood by reading this rich literature of India, expressed in almost twenty-two languages. Social problems right from family, marriage, education, scientific research and its influence, religion, cultural background, middle and elite class, hierarchy and subjugation in society etc. — problems from instinct or instinctive level up to spiritualism and salvation, and their interaction and conflicts — everything is expressed and understood through this literature.

If we want to know post-independent India, we must read and understand the literature of post independence India.

This seminar, hopefully, will make a seminal contribution to the understanding of Indian society and the furtherance of creative writing in India.

I welcome all the delegates and speakers and wish the seminar every success.

Dr. Shakuntala A. Singh
Principal,
VPM's Joshi-Bedekar's College, Thane

संपादक की कलम से...

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य

प्रा. दामोदर मोरे

जोशी कला एवं बेड़ेकर वाणिज्य महाविद्यालय ठाणे द्वारा आयोजित 'स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य' इस विषय पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी के पहले इसी विषयपर २२ अगस्त २००८ तथा २० नवम्बर २००८ को दो कार्यशालाओं का आयोजन किया गया। पहली कार्यशाला में १२ तो दूसरी कार्यशाला में १६ प्रपत्र पढ़े गये। इन कार्यशालाओं में ६ सत्राध्यक्षों ने अपने विचार रखे। २० नवम्बर को हुई कार्यशाला की यह विशेषता थी कि इस में तृतीय वर्ष कला की ४ छात्राओं ने अपने प्रपत्र पढ़े, जिन्हें सुनकर बाहर से आये हुए सत्राध्यक्षों ने उनकी सराहना की।

१६ और १७ जनवरी २००९ को संपन्न हो रही इस संगोष्ठी की और इसके पूर्व आयोजित दो कार्यशालाओं की और एक विशेषता यह है कि महाविद्यालय के संस्कृत, मराठी, हिंदी एवं अंग्रेजी विभागों द्वारा इसका आयोजन किया गया। और इस संगोष्ठी में भी उपरोक्त चार भाषाओं में प्रपत्र पढ़े जा रहे हैं। चार भाषाओं का यह संगम हमें राष्ट्रीय एकता का एहसास दिलाता है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इस संगोष्ठी को प्रायोजित किया; मैं उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

हमेशा हमें सफलता दिखायी देती है लेकिन उसके पिछे जो हाथ होते हैं वे दिखायी नहीं देते। इस संगोष्ठी की सफलता के पिछे विद्या प्रसारक मण्डल के कार्याध्यक्ष हमारे प्रेरणास्थान आदरणीय डॉ. विजय बेड़ेकर एवं महाविद्यालय की प्राचार्या डॉ. शकुंतला सिंह है। उनके प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इस संगोष्ठी में अ.भा.मराठी साहित्य सम्मेलन के पूर्वाध्यक्ष मा. अरूण साधू, हिंदी साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर एवं हिंदी आलोचना के आलोकस्तंभ डॉ. शिवकुमार मिश्र, ख्यातकिर्त कवयित्री एवं 'युद्धरत आम आदमी' की संपादक रमणिका गुप्ता, आलोचक एवं दलित साहित्य के चिंतक, विचारक डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे, कामगार चेतना के मूर्धन्य कवि नारायण सुर्वे, आलोक भट्टाचार्य की उपस्थिति से संगोष्ठी का माहौल महक उठा है। उनके एवं सभी सत्राध्यक्ष तथा प्रपत्र पाठकों के प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ।

संगोष्ठी की सफलता के लिए उपप्राचार्य डॉ. पद्मिनी मूर्ति, उपप्राचार्य लीला भट, उपप्राचार्य बेके, पर्यवेक्षक गौरी तिरमारे, प्रकाश बच्छाव, ग्रंथपाल प्रा. नारायण बारसे, श्री. प्रकाश शेंबेकर, सभी समितियों के अध्यक्ष एवं सदस्य, सभी प्राध्यापक एवं शिक्षकेतर कर्मचारी तथा छात्र सभी ने अपना सहयोग दिया उसे मैं भूल नहीं सकता, उन सभी का मैं आभारी हूँ। 'परफेक्ट प्रिंट' के श्री. विलास सांगुर्डेकर जी का सहयोग तो अभिनंदनीय है। हिंदी के विभागाध्यक्ष प्रा. अनिल ढवले, अंग्रेजी के विभागाध्यक्ष प्रा. प्रमोद खराटे, संस्कृत विभागाध्यक्षा प्रा.मुग्धा कुलकर्णी ने संगोष्ठी सफल बनाने में तहे दिल से कड़ी मेहनत की, उनको मैं संगोष्ठी की सफलता हे लिए बधाई देता हूँ। इस संगोष्ठी में एवं सभी आलेखों की छपाई में यदि कुछ त्रुटियाँ रह गई होगी या किसी का आभार प्रकट करना बाकी रह गया हो तो उसके लिए संगोष्ठी का समन्वयक होने के नाते मैं आपका क्षमाप्रार्थी हूँ।

इस संगोष्ठी के लिए 'स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य' यही विषय क्यों रखा इसके बारे में एक समन्वयक होने के नाते मेरा अभिमत प्रकट करना मेरा दायित्व है।

समाज, साहित्य एवं समय का एक दूसरे से गहरा रिश्ता है। साहित्य अपने समय की पहचान होती है। समाज समय के साथ परिवर्तित होना चाहिए। समाज और समय के प्रति लेखक को हमेशा सजग रहना चाहिए। लेकिन लेखक समाज और समय के प्रति हमेशा सजग रहता दिखायी नहीं देता। समाज में भौतिक परिवर्तन तो दिखायी देता है लेकिन मानसिक तौरपर समाज कितना बदलता है यह महत्त्वपूर्ण बात है।

उत्तरशतीं के भारतीय साहित्य में जो परिवर्तन की झलक दिखायी देती है, जो साहित्य प्रवाह दिखायी देते हैं वे उससे पहले क्यों नही उभरे? इस संदर्भ में मुझे कुछ काव्यपंक्तियाँ याद आ रही हैं। कवि का नाम मैं भूल गया हूँ लेकिन काव्यपंक्तियां ऐसी हैः

''अब तो इस पूरे तालाब का पानी
बदल दो यारे,
यहाँ कँवल के फूल
कुम्हलाने लगे हैं।''

यह सच है कि पानी अपना मार्ग ढूँढ लेता है। लेकिन पानी तालाब में हो तो मार्ग कैसे ढूँड़ेगा? वहाँ तो पानी प्रवाहित होने के लिए बाँध को फोडने की जरूरत होती है। समाज एवं साहित्य तालाब जैसा ही यथास्थितिवादी हुआ था। तालाब का पानी बदलने की जरूरत महसूस होने लगी थी। हमें मिली आज़ादी ने वह काम कर दिया। भारतीय संविधान के 'प्रियेंबल' में स्थित मूल्यों की रोशनी ने समाज का दिल और दिमाग़ जगमगाया। शिक्षा देहातों तक जाने से ज्ञान का उजाला सभी को मिला। सावित्रीबाई फुले , जोतिराव फुले, महर्षि कर्वे, कार्ल मार्क्स, महात्मा गांधी, बाबासाहेब डॉ. भीमराव आम्बेडकर इन महापुरुषों के विचारों की रोशनी ने समाज को परिवर्तनशील बना दिया।

दर्शन साहित्य की रीढ़ होती है। इन महापुरुषों के विचारों में ऐसा सामर्थ्य था, जिसके कारण अज्ञान एवम् अंधविश्वासोमें सदियों से कुम्हलाऐं हुए प्रज्ञा और प्रतिभा के फूल खिलने लगे। महकने लगे। उसी की उपज है-स्वतंत्रता के बाद आये स्त्री-विमर्श, दलित साहित्य विमर्श एवं आदिवासी साहित्य विमर्श।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्यपर आधुनिकतावाद, हिंदुत्ववाद, गांधीवाद, मार्क्सवाद और आम्बेडकरवाद का प्रभाव हैं। विशेषकर आम्बेडकरवादने भारतीय साहित्य का भूगोल बदल दिया और यह साहित्य लोककेन्द्री बन रहा है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य का स्वर बहुस्वरान्वेषी है। भारतीय संविधान के मूल्यों की विचारधारा भारतीय साहित्य का लोकतंत्रीकरण कर रही है। दलित साहित्य न केवल मराठी या हिंदी में बल्कि गुजराती, तामिल, तेलगू, मलयालम, राजस्थानी एवं पंजाबी में लिखा जा रहा है।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य का महत्त्वपूर्ण बिंदू है स्त्री-विमर्श। स्वतंत्रता के बाद भी स्त्री के साथ 'एक भोगवस्तू' के तौर पर बर्ताव किया जाता है। मनुष्य के रूप में आज भी पूरी तरह पुरुष संस्कृति ने उसे स्वीकारा नहीं है। इस संदर्भ में हिंदी साहित्य की मूर्धन्य लेखिका प्रभा खेतान का मन्तव्य सटीक है। उनका कहना है, ''स्त्री को तो मनुष्य की श्रेणी में भी नहीं रखा जाता। पालतू

कुत्तेकी तरह उसके गले में मंगलसूत्र की डोर बाँध दी जाती है।'' विज्ञापन हो या साहित्य उस में स्त्री का 'देह' ही केंद्र रहा है। 'शेक्सपिअर ने कहा है - Frailty, thy name is women निर्बलता तुम्हारा नाम नारी' स्त्री की घूटन को, उसकी छटपटाहट को, उसकी स्वतंत्रता की प्यास एवं मुक्ति की आकांक्षा को, उसकी अपनी अस्मिता को, स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य में मन्नु भंडारी, प्रभा खेतान, चित्रा मुद्‌गल, मृदुला गर्ग, कृष्णा सोबती, मैत्रेयी पुष्पा, राजी सेठ जैसी लेखिकाओं ने वाणी दी हैं।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण बिन्दु है दलित साहित्य। मराठी से प्रारंभ हुआ दलित साहित्य उत्तरशती के आखरी चरण से भारत की कई भाषाओं में महक रहा है। हिन्दी दलित साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर, सत्यान्वेषी आलोचक कंवल भारती इस बारे में 'दलित साहित्य की अवधारणा' इस किताब में लिखते हैं, ''1975 के बाद दलित चेतना की जो धारा विकसित हुई, वह इसलिये विशिष्ट है क्योंकि उसने हिंदी जगत में अपनी पृथक और विशिष्ट पहिचान बनाने का प्रयास किया है। यह प्रयास अभिनव है, क्योंकि अभी तक ऐसा प्रयास किसी युग में नहीं किया गया था। एक पृथक धारा के रूप में हिंदी दलित साहित्य इसी युग में अस्तित्व में आया, बल्कि उसे परिभाषित भी इसी काल में किया गया। यह धारा समग्र रूपसे आम्बेडकर दर्शन से विकसित हुई, और यह दर्शन उसका मूलाधार है। आम्बेडकर दर्शन में दलित मुक्ति की अवधारणा की अभिव्यंजना ही वर्तमान हिंदी दलित साहित्य की प्रतिबद्धता है। इसने नये सौंदर्यशास्त्र की स्थापना की जो स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व के सिद्धान्तों पर आधारित है।''

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य का तीसरा एक बिन्दू है जो अभी उभर रहा है वो है- आदिवासी साहित्य। केवल मराठी में ही नहीं हिंदी में और संताली भाषा में भी उसका निर्माण हो रहा है। नगपुरिया, भिलोरी, मुण्डारी, अरूणांचली, गुजराती, बिरहोर, लम्बाडी में भी यह साहित्य लिखा जा रहा है। स्त्री विमर्श, दलित विमर्श एवं आदिवासी साहित्य विमर्श का एकही संघर्ष सूत्र दिखायी देता है वह है, 'हमें मनुष्य के रूप में स्वीकार करो। हमारे साथ पशुता का नहीं मनुष्य के जैसा बर्ताव करो।' संताली भाषा में लिखनेवाला एक सशक्त स्वर है निर्मला पुतुल - उनकी कविता में 'स्त्री' होने का और आदिवासी होने का दर्द ठीबक रहा है। उनकी काव्य पंक्तियाँ आदिवासी के तीर की तरह लक्ष्य का भेद करती है। 'क्या तुम जानते हो?' यह उनकी स्त्री विमर्श की कवितामें दहकते अंगारे है। वह लिखती हैं -

''• तन के भूगोल से परे
एक स्त्री के मन की गाँठे खोलकर
कभी पढ़ा है तुमने उसके भीतर का इतिहास?

• पढ़ा है कभी उसकी चुप्पी की दहलीज पर बैठे
शब्दों की प्रतिक्षा में उसके चेहरे को?

• बता सकते हो तुम
एक स्त्री को स्त्री दृष्टि से देखते
उसके स्त्रीत्व की परिभाषा?

• अगर नहीं!
तो फिर क्या जानते हो तुम
रसोई और बिस्तर के गणित से परे

एक स्त्री के बारे में''
(युध्दरत आम आदमी - २००१)

आदिवासी चेतना कितनी गहराई से स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य में अभिव्यंजित हो रही है उसका उदाहरण मराठी में भुजंग मेश्राम और हिन्दी में निर्मला पुतुल की कविताओं से प्रातिनिधिक रूप में दिया जा सकता है। निर्मला जी अपनी कविता 'चुड़का सोरेन से' में कहती हैं। :-

''किसके शिकार में रोज जाते हो जंगल?
किसके?
शाम घिरते ही अपनी बस्तियों में उतर आए
इन खरतनाक शहरी जानवरों को पहचानो चुड़का सोरेन
पहचानो!!
पाँव पसारे जो तुम्हारे ही घर में घुस कर बैठें हैं।
तुम्हारे भोलेपन की ओट में
इस पेचदार दुनिया में रहते
तुम इतने सीधे क्यों हो चुड़का सोरेन??''

(आदिवासी स्वर और नई शताब्दी - संपादक रमणिका गुप्ता - पृ. ११९)

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य में ख्रिस्ती मराठी साहित्य है, मुस्लिम मराठी साहित्य है। महानगरीय संवेदना है। महानगरीय संवेदना में हमें स्वार्थपरता, संकुचितता, आदमी - आदमी में पड़ रही दरार, परिवार में बढ़ती दूरियाँ, बिखरते रिश्ते इनका एहसास होता है। महानगरीय जीवन की जटिलता को, उसके विविध आयामों को मराठी, हिंदी साहित्य अभिव्यंजित कर रहा है। मराठी में ग्रामीण साहित्य ने उत्तर आधुनिकता में ही अपनी पहचान बना ली है। हिन्दी में उसे ही हम आँचलिक साहित्य कहते हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य में फणीश्वरनाथ 'रेणू' का ''मैला आँचल'' उपन्यास हिन्दी आँचलिक साहित्य में एक महत्वपूर्ण पड़ाव है।

स्वातंत्र्योत्तर काल में देश के विभाजन की त्रासदी, भारतपर चीन का आक्रमण, सांप्रदायिकता, आपतकाल, बेरोजगारी, आतंकवाद, नीजीकरण, भूमंडलीकरण, बाजारवाद यह सभी समस्याओं का साया स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य पर पड़ा है। हमारा बहोतसा आधुनिक साहित्य और आलोचना विदेशों से आयात, या उससे प्रभावित है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य में हमें इस मिट्टी की महक आती है। भारतीयत्व की खुशबू आती है। मनुष्यत्व के हिफ़ाजत का एहसास होता है। लेखक समाज का सजग प्रहरी होता है। वो अपनी साहित्य कृतियों में अपने विचारों के, मूल्यों के ऐसे बीज बोये, जिस से हमारे प्यारे सारे जहाँ से अच्छा भारत देश की एकता और अखंडता कायम रहे। जय भारत।

❑❑❑

Committees for the Two-day National Seminar on

"Post-Independence Indian Literature"

16th & 17th January, 2009

TECHNICAL & ANCHORING COMMITTEE

Prof.(Ms) T.N. Nadgauda (Chairperson)

Prof.(Ms) Anjali Purandare

Prof.(Mrs) Namrata Srivastav

Prof.(Mrs) Anita Kharat

Prof. Shashikant Waghere (Office)

Mrs. Yogini Joshi (Office)

REGISTRATION COMMITTEE

Prof. (Mrs.) Sindhu P. Natuvetty (Chairperson)

Prof. (Ms.) Archana Kamble

Prof. (Mrs.) Deepali Mulmulay

Dr. (Miss) Indrani Roy

Prof. Shivaji Naik

Prof. (Ms) Bhavana Pawar

Prof. (Mrs.) Ramya Rajamani

PREPARING CERTIFICATES

Prof. (Mrs.) P. P. Tokekar (Chairperson)

Prof. Vaibhav Singhavi

PUBLICATION

Dr. (Mrs.) Shakuntala A. Singh (Editor-in-chief)

Prof. Damodar Morey (Editor)

Prof. Anil Dhawale (Asst. Editor)

Prof. Pramod Kharate (Asst. Editor)

Prof (Mrs.) Mugdha Kulkarni (Asst. Editor)

PRESS & PUBLICITY

Prof. S.L. Rane (Chairperson)

Prof. (Mrs.) P. V. Mathurvaishya

Prof. M.R. Patharkar

Prof.(Ms.) Jayashree Singh

Prof. S. M. Gaikwad

SPONSOR & ADVERTISING

Prof. N. S. Barse (Chairperson)

Prof. R. V. Nhawkar

Prof. Y. Sharma

CATERING COMMITTEE

Prof. (Mrs.) Suchitra Naik(Chairperson)

Prof. (Mrs.) Monika Deshpande

Prof.(Mrs.) Sumedha Naik

Prof.(Mrs.) Manasi Ranade

Prof.(Mrs.) Swapna Chaudhari

STAGE COMMITTEE

Prof. (Mrs.) G. U. Luktuke (Chairperson)

Prof. (Mrs.) S.R. Nair

Prof. (Ms.) Sandhya Vaidya

Prof. (Mrs.) Trupti Sonawane

Prof.(Mrs.) Shaila Srivastava

Prof.(Mrs.) Mamta Deshmukh

Prof.(Mrs.) Archana Pawar

RECEPTION COMMITTEE

Prof. (Mrs.) Rashmi Agnihotri (Chairperson)

Prof.(Ms.) Madhavi Arekar

Prof. (Ms.) Kalpana Chandorkar

Prof. (Mrs.) Neeta Pathak

Prof (Mrs.) Medha Naik

HOSPITALITY COMMITTEE

Prof. Y. S. Prasade (Chairperson)

Prof. S.G. Shinde

Prof. A.R. Bhabhad

Prof. M.R. Patharkar

Prof. T. J. Sharma

Prof. T. R. Hedav

Prof. (Ms.) C. B. Kore

(Incharge of outstation Lady Delegates)

Prof. (Mrs.) P. P. Joshi

(Incharge of outstation Lady Delegates)

Programme for the National Seminar on

"Post – Independence Indian Literature"

Friday 16th January 2009

INAUGURAL FUNCTION - उद्‌घाटन समारंभ

9.30 to 9.40 a.m.	Lighting of Lamp, Prayer song and Inauguration of Seminar	
9.40 to 9.45 a.m.	Introductory Remarks	**Prof. Damodar Morey**
9.45 to 9.50 a.m.	Welcome Address	**Prin. Dr. (Mrs.) Shakuntala A. Singh**
9.50 to 10.30 a.m.	Inaugural Speech	**Shri. Arun Sadhu**
10.30 to 11.20 a.m.	Key-note Address	**Dr. Shivkumar Mishra**
11.20 to 11.25 a.m.	Vote of thanks	**Prof. (Mrs.) M. A. Kulkarni**
11.25 to 11.35		**Tea**

SESSION I - MODERNISM (आधुनिकतावाद)

Chairperson: ***Dr. Girish Jani***

11.35 to 11.50 a.m.	प्रा. पंकजा वाघमारे	स्वातंत्र्योत्तर संस्कृत साहित्यातील आधुनिकतावाद
11.50 to 12.05 p.m.	प्रा. डॉ. वसंत पाटणकर	स्वातंत्र्योत्तर मराठी कवितेतील महानगरीय संवेदनशीलता
12.05 to 12.20 p.m.	Dr. Satish Deshpande	Modernism and Indian writing in English
12.20 to 12.35 p.m.		Discussion
12.35 to 01.05 p.m.	Dr. Girish Jani	Chairperson's comments
1.05 to 2.00 p.m.		**Lunch**

SESSION II - DALIT LITERATURE (दलित साहित्य)

सत्राध्यक्ष : डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे

2.00 to 2.15 p.m.	डॉ. मनोहर जाधव	स्वातंत्र्योत्तर मराठी दलित कविता
2.15 to 2.30 p.m.	डॉ. बजरंग बिहारी	दलित साहित्य के सरोकार (विशेष संदर्भ : नई पीढ़ी की दलित कहानियाँ)
2.30 to 2.45 p.m.	Prof. Raji Ramesh	Glimpses of Tamil Dalit Literature with special reference to 'Bama'
2.45 to 3.00 p.m.		चर्चा
3.00 to 3.30 p.m.	डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे	अध्यक्षीय वक्तव्य

SESSION III - REGIONAL AND TRIBAL LITERATURE
(आँचालिक एवं जनजातीय साहित्य)

सत्राध्यक्ष : डॉ. रमणिका गुप्ता

3.30 to 3.45 pm	प्रा. राजन गवस	स्वातंत्र्योत्तर मराठी ग्रामीण साहित्य
3.45 to 4.00 pm	डॉ. सिसिलिया कार्व्हालो	स्वातंत्र्योत्तर मराठी ख्रिस्ती साहित्य
4.00 to 4.15 pm		चर्चा
4.15 to 4.45 pm	डॉ. रमणिका गुप्ता	अध्यक्षीय वक्तव्य
4.45 to 5.00 p.m.		**Tea**

कवी सम्मेलन

5.00 to 7.00 p.m.	अध्यक्ष	- **नारायण सुर्वे**
	सूत्रसंचालन	- **आलोक भट्टाचार्य**
	सहभाग	- **डॉ. मुकेश गौतम**
		- **प्रा.प्रशांत मोरे**
		- **महेश दुबे**
		- **प्रकाश होळकर**

Saturday, 17th January 2009

9.00 am to 9.30 am Breakfast

SESSION I - SYMPOSIUM ON FEMINISM (स्त्रीवादी साहित्य)

सत्राध्यक्ष : प्रा. पुष्पा भावे

9.30 to 10.00 a.m.	डॉ. ललिता नामजोशी	स्वातंत्र्योत्तर संस्कृत साहित्य प्रतिबिम्बितःस्त्रीवादः।
10.00 to 10.30 a.m.	प्रा. डॉ. पुष्पलता राजापुरे-तापस	स्वातंत्र्योत्तर मराठी नाटकातील स्त्री प्रतिमा
10.30 to 11.00 a.m.	डॉ. सुधा अरोड़ा	स्वातंत्र्योत्तर स्त्री रचित हिन्दी कथासाहित्य
11.00 to 11.30 a.m.	Dr. Shobha Ghosh	Post-Independence Women's Novel in English
11.30 to 11.45 a.m.		चर्चा
11.45 to 12.15 a.m.	प्रा. पुष्पा भावे	अध्यक्षीय वक्तव्य

SESSION II - CONTEMPORARY INDIAN LITERATURE
(समकालीन भारतीय साहित्य)

Chairperson: ***Dr. N. K. Ghosh***

12.15 to 12.30 p.m.	डॉ. चंद्रगुप्त वर्णेकर	संगणकविज्ञाने संस्कृत रचनानां महत्त्वम्।
12.30 to 12.45 p.m.	Dr. Tabassum Shaikh	Post Independence Urdu Literature
12.45 to 01.00 p.m.	प्रा. कल्पना आठल्ये	स्वातंत्र्योत्तर काळातील आधुनिक संस्कृत-साहित्य प्रकार
1.00 to 1.15 p.m.		चर्चा
1.15 to 1.45 p.m.	Dr. N. K. Ghosh	Chairperson's comments
1.45 to 2.30 p.m.		**Lunch**

SESSION III - CRITICISM (समीक्षा)

सत्राध्यक्ष : प्रा. डॉ. भारती निरगुडकर

2.30 to 2.45 p.m.	Dr. N. N. Joshi	Criticism in Post - Independence Sanskrit Literature
2.45 to 3.00 p.m.	डॉ. शत्रुघ्न जाधव	स्वातंत्र्योत्तर मराठीतील समीक्षा प्रवाह
3.00 to 3.15 p.m.	डॉ. वीणा भल्ला	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में वैयक्तिक स्वातंत्र्यः अस्तित्ववादी अवधारणा
3.15 to 3.30 p.m.		चर्चा
3.30 to 4.00 p.m.	प्रा. डॉ. भारती निरगुडकर	अध्यक्षीय वक्तव्य

समापन सत्र

4.00 to 4.15 p.m.	डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे	समारोपाचे भाषण
4.15 to 4.30 p.m.	आभार - प्रा. अनिल ढवळे	
	पसायदान	
4.30 to 4.45 p.m.		**Tea**

Pre - Conference Workshop on

Post - Independence Indian Literature

Friday 22nd August 2008

Schedule

9.30 am - 10.00 am	-	चहापान व नोंदणी
10.00 am	-	स्वागत गीत
10.05 am	-	स्वागत
10.10 am	-	प्रास्ताविक : प्रा. दामोदर मोरे
10.15 am	-	अध्यक्षीय भाषण : डॉ. सौ. शकुंतला सिंह
10.25 am	-	उद्घाटनाचे भाषण : डॉ. सौ. मंगला सिन्नकर

सत्र १ ले

सत्राध्यक्ष - प्रा. डॉ. मंगला सिन्नकर

10.35 am to 10.50 am	-	प्रा. सौ. मुग्धा कुलकर्णी (Kantakanjali - the Masterpiece of Satire)
10.50 am to 11.05 am	-	प्रा. दामोदर मोर (स्वातंत्र्योत्तर कवितेतील मानवतावाद)
11.05 am to 11.20 am	-	डॉ. मिथिलेश शर्मा (स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता में राष्ट्रीय भावना)
11.20 am to 11.35 am	-	प्रा. प्रमोद खराटे (" Upamanyu Chatterjee's English, August : A Satire of Civil Service")
11.35 am to 11.50 noon	-	
11.50 am to 12.15 am	-	चर्चा

सत्र २ रे

12.15 pm to 12.30 pm	-	प्राचार्य धनाजी गुरव (स्वातंत्र्योत्तर काळातील मराठी कादंबरी)
12.30 pm to 12.45 pm	-	डॉ. अर्जुन घरत (स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास का भावपक्ष कथ्य)
12.45 pm to 01.00 pm	-	प्रा. अनिल ढवळे (स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श)
01.00 pm to 01.30 pm	-	चर्चा
1.30 pm to 2.30 pm		भोजन अवकाश

सत्र ३ रे

सत्राध्यक्ष - प्रा. डॉ. बी. रंगराव

02.30 pm to 02.45 pm	-	श्री. नीरज दांडेकर (संस्कृत भारतीची विविध प्रकाशने)
02.45 pm to 03.00 pm	-	प्रा. विठ्ठल शिंदे (स्वातंत्र्योत्तर काळातील अदिवासी कविता)
03.00 pm to 03.15 pm	-	प्रा. जयश्री सिंह (स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों की कथावस्तू)
03.15 pm to 03.30 pm	-	prof. Manoj Patharkar (Myth, Legend & Ritual in Arun Kolatkar's 'Jejuri')
03.30 pm to 04.45 pm	-	प्रा. तृप्ती सोनावणे (स्वातंत्र्योत्तर काळातील आंबेडकरी साहित्य)

Pre - Conference Workshop on

Post - Independence Indian Literature

Thursay 20th November 2008

SCHEDULE

09.45 to 10.15	-	Registration & Breakfast.
10.15 to 10.30	-	**Inauguration by Principal Dr. (Mrs.) Shakuntala A. Singh**

प्रथमः सत्रः - संस्कृत

सत्राध्यक्षा - डॉ. मंजूषा गोखले

10.30 to 10.40	-	कु. पुजा वाळुंज (द्वितीय वर्ष कला शाखा)
		श्री. भातखण्डे - महोदयानां नाटकेषु प्रतिबिम्बितं स्त्रीसामर्थ्यम्।
10.40 to 10.55	-	प्रा. सौ.प्रतिभा माथुरवैश्य
	-	स्वातंत्र्योत्तर संस्कृत -चरित्रकाव्याणां चिकित्सकः अभ्यासः।
10.55 to 11.10	-	प्रा. सौ. मुग्धा रिसबुड
	-	Socio-Cultural Trends in the Kavya
		Literature Composed by Dr. S.B. Varnekar
11.10 to 11.20	-	चर्चा
11.20 to 11.35	-	सत्राध्यक्षाणां मतप्रदर्शनम्।
11.35 to 11.40	-	आभारप्रदर्शनम् ।

दुसरे सत्र - मराठी

सत्राध्यक्ष - प्रा. डॉ. हरिश्चंद्र थोरात

11.40 to 11.50	-	कु. लीना कदम (तृतीय वर्ष कला शाखा)
		''स्वातंत्र्योत्तर मराठी कवयित्रींच्या कवितेतील प्रेमभावना''
11.50 to 12.00	-	कु. वासंती गजानन मराडे
	-	(ग्रंथालय आणि माहितीशास्त्र)
		स्वातंत्र्योत्तर मराठी कवयित्रींच्या कवितेंतील स्त्रीवादी जाणीवा
12.00 to 12.15	-	प्रा. लीना केदारे
	-	'दलित मराठी स्त्रियांच्या आत्मकथनातील स्त्री दर्शन'
12.15 to 12.30	-	प्रा. डॉ. भारती निरगुडकर
		''स्वातंत्र्योत्तर मराठी स्त्री लेखकांच्या कथांतील स्त्रीवादी जाणीव''
12.30 to 12.40	-	चर्चा
12.40 to 12.55	-	सत्राध्यक्षांचे मनोगत
12.45 to 12.50	-	आभार
01.00 to 02.00		**Lunch**

तृतीय सत्र - हिंदी

सत्राध्यक्ष - डॉ. राजम नटराजन पिल्लै

02.00 to 02.15	-	प्रा. तुषार हेडाव
	-	'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविताओ में पारिवारिक जीवन'
02.15 to 02.30	-	प्रा. मेदिनी अंजनीकर
		''स्वातंत्र्योत्तर आंचलिक हिंदी उपन्यासो में अभिव्यक्त जीवनदर्शन''
02.30 to 02.45	-	प्रा. गौतम सोनकांबले
		''स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानियो में दलित चेतना''
02.45 to 03.00	-	प्रा. प्रकाश बच्छाव
		''स्वातंत्र्योत्तर हिंदी गज़ल में सामाजिक चेतना''
03.00 to 03.10	-	चर्चा
03.10 to 03.25	-	सत्राध्यक्ष का वक्तव्य
03.25 to 03.35	-	धन्यवाद ज्ञापन
03.35 to 03.45		**Tea**

SESSION IV - English

Chairperson of the Session - Dr. Sudhir Nikam

03.45 to 03.55	-	Miss. Santoshini Soundrajan
	-	"The Post 80's Developments in Indian English Novels".
03.55 to 04.10	-	Mrs. Shailaja Nair
	-	" The Social Construction of Gender as Examined by Indian Women Writers in the 20th Century Short Stories."
04.10 to 04.25	-	Dr. Sudhir Nikam
	-	" An Appeal for Social Change in Post Independence Indian English Dramas ."
04.25 to 04.40	-	Prof. Miss. Madhavi Arekar
	-	" Post Independence Indian English Poetry " – An Overview
04.40 to 04.55	-	Prof. Miss. Hemlata Waghchaure
	-	" Quest for Female Identity." A Comparative Study of Anita Desai's " Clear Light of the Day and Shanta Gokhale's "Rita Welinkar".
04.55 to 05.05	-	Discussion
05.05 to 05.20	-	Chairperson's Comments
05.20 to 05.25	-	Vote of Thanks
05.25 to 05.30	-	पसायदान - तेजश्री परचुरे



VIDYA PRASARAK MANDAL'S

VARIOUS EDUCATIONAL INSTITUTIONS

- Dr. Bedekar Vidya Mandir [Marathi Medium]
- Sou. A. K. Joshi English Medium School
- B. N. Bandodkar College of Science
- K. G. Joshi College of Arts
- N. G. Bedekar College of Commerce
- V.P.M's TMC Law College
- V.P.M's Polytechnic
- VPM's Polytechnic IT Centre
- Advanced Study Centre
- Dr. V. N. Bedekar Institute of Management Studies

CONTENTS

Inaugural Address...

Post-Independence Indian Literature

Shri Arun Sadhu



Honourable participants and friends,

It gives me great pleasure to declare open this august seminar on "Post-Independence Indian Literature" attended, no doubt, by the cream of academicians, scholarly critics, writers and students of Indian literature from all over the country. As for myself, I am happy that the hosts, K.G. Joshi College of Arts and N.G.Bedekar College of Commerce have called me here, in keeping with the touching Indian tradition of inviting for inauguration a person who is completely ignorant of the subject-matter of the event to be launched,. I would humbly claim that I fit the bill perfectly. I am just a writer, a fiction writer, and some of you might know how when a novel is being born, the poor writer has to leave the outside world behind and sit at the desk alone with a bent head scrawling (or pressing the computer keyboard) pages after pages day after day till his back aches. A writer doesn't read. He writes.

And a typical Indian language writer has to write and write and write to make two ends meet. He/she is not always successful in that last obligation. And so he/she is obliged to write again breathlessly, not as much for creative nirvana, as for some reprehensible commercial purpose that might lessen the material miseries of the family. That is the lot of the Indian language writer and by Indian language writer one means exactly that and not the Indo-Anglian writer though English is also one of the Indian languages. So let's call him a *desi* writer. Some might think the term demeaning. But one does not mean that as one does write in a *desi* language. Please do not for a moment entertain the thought that I belong to that superior class of Marathi writers who have made a cult of '*desiism*' and woe betide those who do not follow their whip. Some times one believes that one is among those inferior creatures that are the object of their disdain. That gives one freedom to look at the world with absolutely open mind.

Another point is I am deeply suspicious of the creativity of fiction writers who write straight, logical, analytical theses or deliver scholarly lectures on serious themes with citations, quotations, footnotes and bibliographies. A writer is supposed to create something new which has no proof, which may not exist in mortal reality and which is still there. He/she is supposed to unravel intuitively the mysteries of the world, of the mankind, of the human mind, of the society. Unless he/she flies in a tangent, thinks with a warped mind, fantasizes, occasionally buries logic and material reality, dissembles and re-assembles the universe and dreams unfettered, he/she cannot create. A genuine creative writer can hardly be an objective literary critic. I like speaking extempore. One can ruminate, evoke dreams, light new sparks within oneself, be profoundly illogical or speak with scintillating incoherence, be sparklingly interesting or excruciatingly boring in an extempore dialogue. A written text is bland, bereft of any fun, hypocritical even if it is occasionally enlightening. I must also warn you that not being a student of literature, I am completely blank of the lexicon used for literary criticism. In spite of all these failings, if I am inflicting this speech on you, blame the organizers.

From the observations I have made so far, my audience must have guessed very intelligently that I am trying to justify my poor reading habits. I admit my guilt. Well, India is so complex and its wonderful linguistic plurality is so mind-boggling… *The People of India*, edited by *Anthropological* Survey of India's Dr. K.S. Singh, records more than 4,500 endogamus communities in India with about 325 languages and dialects in 12 distinct language families. There are 22 official languages with well developed literature and many of them with separate scripts. There are 24 distinct scripts still in use in India. How much can one read? How can one be audacious to claim to speak on Indian

literature as a whole? One knows of the post- 1947 literature in one's own language a little bit, has faint idea of what is happening in Hindi; one has read short stories and novels in Kannada, Bangla, Tamil and Telugu and some in Oriya in Marathi translation; And some overall impressions from the prisms of student critics of Indian literature. And yet, on the basis of this sparse capital, one is expected to speak before an audience that is far better equipped to do so. Well, I will do my duty with a heavy heart.

Having made the premises clear, I now turn to that grand exercise which most VIP specialists in the art of inaugural speeches resort to; and that is making "broad" observations on the subject of confabulations here. While doing so, I must not ignore the remarks made by the great Salman Rushdie, the God incarnate for many Indian readers, that only those Indian writers writing in English are fit to be called 'writers' (or I think he has used the phrased fit to be canonized?) and that Indo-Anglian literature represents the most valuable contribution that India has made to the world literature. In sum, he implies that all that has been written over the centuries in the native Indian languages is bereft of any literary value. Few will agree with this presumptious observation. Even so, while speaking of 'post-Independence Indian literature', one should at least give priority to the discussion of post-Independence Indo-Anglian literature. That is because its size is not very large, it is discussed widely in English language journals easily available and as Rushdie claims it is the only body of Indian literature known to Western critics and readers.

Indian writers of English literature can truly fall in two categories convenient for this discussion. All writings by people like Raja Rao, R.K.Narayan, Mulkraj Anand and others of their generation, not to mention G.V.Desani, can be pushed, by Rushdie's exalted standards into the darkness of pre-Independent literature which has a stink of 'desi' barrenness. This shall include their writings even upto 1980-82. Perhaps, the Rushdie school, despite some anachronism, might be inclined to resurrect Desani from the dark pit to the shining body of post-independence literature of his school.

Before going into the content and quality of the Indo-Anglian literature (Post-independence), it must be candidly acknowledged that broadly speaking it does show the capacity to reflect the over-arching pan-Indian ethos in terms of geography and partly of history. Perhaps, barring Hindi and Urdu and that too with limited extent, few desi languages have attempted in that direction. One is tempted to include Bengali in that category citing the writings of Rabindranath Tagore, Bankim Chandra Chatterjee and others. But most of them do not fall in the purview of our discussion. One shall not ask the question at this moment whether regional language literature manifests that Indian ethos or that over-arching pan-Indianness. Does Bhojpuri song reflect that phenomenon? When Kumar Gandharva sings monsoon songs of Malwa, is he appealing to the specific sensitivities of the narrow Malwa region? Does not S.D.Burman's boatman's song echo through the hearts of Indians across the sub-continent? I do not mean the tunes, the lilt or the composition; but the words. Forgive me for digression; but I am not digressing. I am just raising a question. I am sure, you academicians must have given a lot of thought to what it means being Indian, whether all that is written in regional Indian languages is not fit to be called Indian because it does not span India's geography.

Whether the Indo-Anglian writing of the day authentically cuts across the culture specific sensitivities and nuances and presents a composite Indian sensitivity is a question of subjective judgment. There can be two ways to look at this problem. Firstly, if at all there is one composite sensitivity, it is a bland one manufactured by several pan-Indian institutions including the bureaucracies of the Government and the Corporate sector. If at all this superior sensitivity has any flavour, that is of wealthy elitism. Secondly, not a few Indo-Anglian writers, feigning total submergence in that imagined composite Indian identity, betray in their writings the mark of unshakeable roots of their regions, the dust of the soil of their village or town and the stink or fragrance of their native air. Be it Rushdie, Roy or Ghosh, they cannot escape this fate howsoever they deny. The 'pan-Indianness' of their writings and their characters manifest in mere geography. Even their historical appendages often betray their regional roots. Perhaps Vikram Seth and Arvind Adiga escape this trap.

But why feel inferior if you smell of your village, language or your school? There are groups in the West that study 'Goan' literature as an entity in itself. Now, this Goan literature is all written in English. Let us not forget that India is a huge and complex federation of regional cultures, languages, histories, castes, creeds and religions. Each caste of each region is a sovereign country in itself with its satraps in the sub-castes. So is each language with its songs and tales and its sub-regional dialects. The Indian soul is made up of all these influences right from Mahabharata to Bollywood to A.R.Rehman's compositions. If only our modern Indo-Anglian writers accept this reality, they will be that much more in tune with the confederational Indian sensitivity. Perhaps, Raja Raos, Anands and Narayans - and of course Jawaharlal Nehru - of the dark era were frankly aware of this phenomenon and that made their writings touchingly Indian like an innocent Indian villager with earthly wisdom.

Now there are several common distinctive characteristics of post-Independence Indo-Anglian writers with respect to their personal background, upbringing and the content of their writings. Barring very few exceptions, they belong to the elite class not having ever tasted the bitter truth of poverty. They were schooled in elite institutions, insulated from the dirt and cacophony of India. And if they had no stint in St. Stephan's College or St. Xaviers, they were groomed in Oxford or Cambridge. From their early youth, they have moved in the highest echelons of power and culture and had at their command the resources and facilities which an average Indian youth can hardly ever dream of. There are some exceptions. But that this is the general sketch cannot be denied. Rushdie claims only the Indo-Anglian writing reflects the true soul of India. One wonders. There is no disrespect to his creativity and scintillating language.

Another common thread is the kind of questionable Indian ambience as reflected in post-Independence Indian writing. The British colonizers of the 20th century had developed certain peculiar perception of India and Indians. That perception is authentically reflected in the writings of Rudyard Kipling, E.M.Foster and Paul Scott. India is an exotic place for them. Here tigers roar from across the rivers, cows and buffaloes chew grass and ruminate philosophically sitting leisurely in the midst of Mumbai streets. It is a country of snakes and elephants and Maharajas and their nautch girls; of cunning Brahmins and cheating baniyas; of people dying of starvation in every corner of streets…It is a world of magic and poverty and dirt. Sex is rampant and no white woman is safe here. Most British writers of that era including Foster and Scott have at least one episode of a white woman being raped by an Indian male in mysterious circumstances. That is the ambience of India as they saw. Let us call it Foster-Kippling syndrome in literature.

The Indo-Anglian writers, certainly the most famous ones, unwittingly fall prey to this syndrome. They are intelligent, they are proud to be Indians and they are patriotic too. But in their writing they conform to the image of India as Western readers and publishers want to see it. It is the India-Exotica which they subtly present to cater to the tastes of Western readers. Of course, without tigers and rope tricks and raped white women. Raja Rao and Malgaonkar have averred publicly how the Western publishers demand the exotica, poverty, dirt, cows and possessed women. Yours truly, a poor Indian language writer, too has experienced this syndrome first hand. *The Hungry Tide, Shame, God of Small Things, Midnight's Children*…. the most applauded novels of the Indo-Anglian writers, all have ample ingredients of exotic India which the Westerners like to read about. Again, I shall prefer to make exceptions of Seth and Adiga. There could be others. Things are changing and Rushdie's generation is getting older. The younger ones hopefully have no influence of Foster-Kippling syndrome.

At the outset I had promised to make some broad observations. How the change in post-independence India is taken for granted in the Indo-Anglian writing and how that extremely complex and utterly incomprehensible process of change is detailed with minute observations providing a profound insight into the mind of India in Indian *desi* language writing, is the matter I would like to leave for the erudition of the scholars gathered here. There is no denying the fact that post-independence development of awareness of their rights among different segments of backward people of India, their fierce struggles to assert those

rights, their economic, social and cultural ascendance , their confrontation with socio-cultural establishments of each region and a dramatic transformation of India that this phenomenal turbulence has brought about is portrayed more strikingly and sensitively in the native Indian language literature.

India is witnessing a new surge of the people from the bottom who were either suppressed or thrown into second class human categories for centuries. The most striking phenomenon of Post-Independence Indian literature has been the articulation of these people through literature. My generation has witnessed this literary turbulence in Indian languages and its steady growth from close quarters. There may not be any parallels to this phenomenon in the world literature. Not even the black literature of the Americas. It is up to the academics and critics to judge the quality and sensitivity of this body of literature. To my mind this surge has contributed phenomenally to enrichment of the native Indian languages. It has not only provided a new vocabulary to the languages, it has also lent a wholesomeness to the literature of these languages monopolized till recently, in terms of mode of expression, cultural sensitivities, linguistic nuances and worldly experiences, by the elite classes of each region. From the eyes of the people at large, the elitist unidimensional literature in each of the Indian native language, could be faulted for the same trait of sad alienation from the people and from the true ethos of the country which manifests in the Indo-Anglian literature. It is now possible to experience India – or at least one segment of India- in its grand multi-dimensional, multicultural beauty in writings, in poetry and in novels in the native Indian language literature. This seminal development is bound to have momentous repercussions on socio-political, economic and cultural future of India.

Thank you.

•••

बीज वक्तव्य...

: स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य :
(आधारभूमि और विचार के विशिष्ट बिन्दु)

शिवकुमार मिश्रा



स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य विपर्यस्त जीवनस्थितियों के बीच रचा जाने वाला साहित्य है। विपर्यय अपने तमाम अंतर्विरोधों और सीमाओ के बावजूद १९ वीं सदी उत्तरार्द्ध के नवजागरण और बीसवी सदी पूर्वार्द्ध के स्वाधीनता - आन्दोलन के समरात्मक जीवन - मूल्यों, विचारों, उनसे जुड़े एकता और आधुनिक भारत के निर्माण और इन सबसे उपजे सपनों और प्रेरणाओं का विपर्यय नवजागरण तथा स्वाधीनता - आन्दोलन के अपने अंतर्विरोध तथा सीमाएँ थी, परन्तु उनके द्वारा हमें ऐसा तमाम कुछ सकारात्मक और बहुमूल्य भी मिला, स्वाधीनता के बाद पाथेय और विरासत के रूप में यदि हम उसे सहेज और संभाल पाते, बीसवीं सदी उत्तरार्द्ध अर्थात् स्वाधीनता के बाद नई सदी बिन्दु तक की यात्रा हम काफीकुछ आश्वस्त होकर तप कर सकते थे। नवजागरण तथा स्वाधीनता-आंदोलन की यह विरासत, उससे जुड़े हमारे सपने - एक आधुनिक, वैज्ञानिक - मानस के विवेकशील, समतापूर्ण समाजवाले, धर्म - निरपेक्ष, जनतांत्रिक भारत के हमारे सपने हमारे संविधान में टँके हुए हैं। इसे विडंबना ही कहेंगे कि हम इस विरासत को सहेज और संभाल नहीं पाए। स्वातंत्र्योत्तर भारत की वास्तविकता नवजागरण और स्वाधीनता - आन्दोलन की यह विरासत, उसकी उपलब्धियाँ उसके सपने नहीं बने उसके अंतर्विरोध और उसकी सीमाओं से उपजी जीवन-स्थितियाँ बनीं। बीसवी सदी उत्तरार्द्ध से नई सदी के इस बिन्दु तक की जिस यात्रा को आश्वस्त होकर तय किया जा सकता था, उसे हमें आजादी से उपजे - मोहभंग के संत्रास, आशंका, अनिश्चय, संशय, असुरक्षित मनोभूमि के तहत सामाजिक यथार्थ के निहायत त्रासद - संदर्भो के बीच तय करना पड़ा। अन्यथा, क्या कारण है कि आजादी मिलने के बाद महज़ दस सालों के भीतर उससे हमारा पोहभंग, जिसे देश - विभाजन की कीमत पर लंबे संघर्ष और बलिदानों के साथ हमने अर्जित किया था। याद आती है रघुवीर सहाय की छठे दशक की ये पंक्तियाँ -

''बाँध में दरार, पाखंड वक्तव्य में
न्याय में घटतोल, नीति में टुटका
स्वाधीन होने का इतना भय
एक पराधीन जाति को।''

मोहभंग की इसी मनोभूमि से उपजी साठोत्तरी कवि धूमिल की इन पंक्तियों को देखिए -

''चारो ओर एक - शब्दवेधी सन्नाटा
उचाट और कूंथता हुआ
गरीब की व्यथा की तरह
घृणा में डूबा पूरा देश
मेरे लिए कारागार है।''

स्वाधीनता के बाद की कविता और गद्य की विधाओं उपन्यास, कहानी आदि में मोहभंग की विपर्यस्त जीवन स्थितियाँ से उपजे त्रासद यथार्थ के बहुआयामी चित्र साक्ष्य हैं उस विपर्यय के, जिसका जिक्र हमने ऊपर किया है। मेरा मानना है कि हिन्दी से इतर भारतीय भाषाओं की रचनाधर्मिता में भी स्वातंत्र्योत्तर यथार्थ के ऐसे ही साक्ष्य होंगे -

''कहाँ तो तय था चिरागां हरेक घर के लिए
कहाँ चिराग मयस्सर नहीं, शहर के लिए।''
(दुष्यंत कुमार)

स्वातंत्र्योत्तर राष्ट्रीय परिदृश्य का ज़ायज़ा लें - तो सामाजिक जीवन में जिस यथार्थ से हमारा साक्षात्कार होता है, वह है, सद्य: प्राप्त असंतोष अपनी राजसत्ता को किसी भी तरह बनाए और बचाए रखने को आतुर घबराया शासक -वर्ग, नव - असंतोष से उपजे आन्दोलन - अभियानों का एक सिलसिला, दलित और नारी उत्पीड़न के रोमांचर वृत्तांत, अपनी अस्मिता और हक की उनकी गुहार, नक्सलवाद का उदय साम्प्रदायिक मनोभावना की हिंसक अभिव्यक्तियाँ, पड़ोसी देशों से लड़े गए युद्धों का संत्रास आपात्काल और उसका - दमन चक्र - समग्रत: जन को हाशिए पर ड़ालकर अपनी प्रभुता को विज्ञापित करता महज एक तंत्र।

सन १९९० के बाद राष्ट्रीय जीवन में स्थितियाँ, और भी विषय तथा उग्र - बनकर उभरती हैं। साक्ष्य है - बाबरी मस्जिद का ध्वंस और 'जयश्री राम' की हाहाकारी गूंजों के साथ शुरू हुआ सांप्रदायिक धर्मोन्माद का देशव्यापी रक्तरंजित अभियान। अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में सोठियत संघ का विघटन परिणामत: अमरीका की सरपरस्ती में एक - वैश्वीकरण का उदय उपनिवेशवादी - पूंजीवादी शक्तियो का, विश्वग्राम जैसे लुभावने मुखाटों में सामने आना और विश्व वर्चस्व के अपने मंसूबों जैसे तीसरी दुनिया के देशों को पहले जनतंत्र, जन-कल्याण और विकास के नाम पर अपनी शर्तों पर कर्ज देना, कर्ज के अपने नागपाश में उन्हें जकड़कर शनै: शनै: उनकी आर्थिक संप्रभुता

पर काबिल होना, तदुपरांत उन्हें अपने बाजार के रूप में बदलकर निश्चिन्त होकर उनका आर्थिक दोहन करना। इन देशो के समाज के बड़े हिस्से के महज जिन्दाभर रहने की बुनियादी जरूरतो की कीमत पर नवधनाढ़यों और नए मध्यवर्ग के अपेक्षाकृत बहुत छोटे - से हिस्से के लिए मुहैया किया गया सुखमोगवाद का स्वर्ग, भारत - सहित इन देशों के समाज को बेहद सपन्नो और बेहद विपन्नों के एक तीखे विभाजन का साक्ष्य तो देता ही है, बाजार द्वारा फैलाई गई उसकी अपसंस्कृति इन देशों की जातीयाँ - राष्ट्रीय अस्मिता, जीवनमूल्यों, परंपराओं, भाषा, संस्कृति, सबको अपनी लपेट मे लेती हुई उन्हें अपनी वर्चस्वशाली अपसंस्कृति का दास बनकर जीने की नियति देता है। कहने की जरूरत नहीं कि जिस समय को आज हम जी रहे है, काल के अनंत प्रवाह का वह सबसे कठिन, सबसे क्रूर, नितांत - मानव द्रोही और निहायत रचना - विरोधी समय है। आदमी की हवस उसका सुखभोगवाद उसे कितना स्वार्थी, खुदगर्ज, आत्मकेंद्रित, संवेदनशून्य, लंपट, निर्लज्ज और कठोर बना सकता है, यह हमने अपने समय में १९९० के बाद के आर्थिक - उदारीकरण, मुक्त व्यापार, निजीकरण और इनके साथ आए बाजारतंत्र से उपजी जीवन - स्थितियों में, बाजार के मायालोक में बेसुध नवधनाढ़यों और नए मध्यवर्ग के जीवन में देखा है।

आदमी के सृजनधर्मी प्रयासो, उसकी आदमीयत, उसके अपने जीवन - स्वत्व के भयानक क्षरण जीवन में जो कुछ भी शुभ और सुंदर बचा है, उसे भी लील लेने को आदमी ऐसे कठिन समय में समकालीनता, जनधर्मिता, अपनी मानवीय अर्थवत्ता की पहचान करानेवाली वास्तविक अर्थों में संवेदनशील, मानवीय यदि कोई रचना - धर्मिता हो सकती है, तो निश्चय ही वह प्रतिरोध की अस्वीकार की और असहमति की ही रचनाधर्मिता होगी, या उसे ऐसा होना चाहिए। सन १९९० के बाद के रचनाधर्मी परिदृश्य में बाजार और बाजारवाद तथा आदमी की हिंस्र सोच और क्रियाकलापों के विरोध में, उनका प्रतिकार करने, उनसे जूझते - टकराते - आदमीयत और आदमी की सृजनधर्मिता के पक्ष में, हर तरह के प्रलोभन और हर तरह के उन्माद से बचते हुए जो भी रचनाकर्म अपनी मानवीय संवेदना के नाते पाठकों के प्रबुद्ध और संजीदा समाज के बीच मान्य हुआ है, वंचितो और उपेक्षितों के हक में अपनी पूरी उर्जा के साथ सामने आया है, वह प्रतिरोध, अस्वीकार और असहमति का रचना - कर्म ही है।

पिछले पृष्ठों में हमने कहा है कि नवजागरण आंदोलन के सकारात्मक मूल्य नहीं उनके अंतर्विरोध और सीमाएँ स्वातंत्र्योत्तर भारत का यथार्थ बनी। वस्तुत: साम्प्रदायिकता, पुनरूत्थानवाद तथा धर्म से जुडी अंधनिष्ठाएँ जो स्वाधीनता के बाद का यथार्थ बनीं। उनके बीज नवजागरण के अंतर्विरोधों में ही कहीं हैं तथा साधारण जनता के त्रासद जीवन संदर्भ, आजादी से उनका मोहभंग जन - असंतोष के जो आयाम स्वाधीनता के बाद राष्ट्रीय जीवन में उभरे, उनका उत्स स्वाधीनता आन्दोलन की सीमाओं में देखा जा सकता है। इस संदर्भ में पश्चिमी विद्वान फ्रेजर फैनन का यह कथन स्थिति पर एकदम सही टिप्पणी है कि पराधीन देशों के मुक्ति - आन्दोलनों को यदि जनता के आर्थिक - सामाजिक हित से संबंध रखने वाले सवालों से नहीं जोड़ा जाता है तो भविष्य मुक्ति का नहीं, एक उपनिवेश का ही होगा हमारे स्वाधीनता आन्दोलन की यही विडंबना रही कि जनता के जीवन - संदर्भो से जुड़े एक समग्र और संश्लिष्ट मुक्ति - आंदोलन सेश्नै: शनै: वह मात्र राजसत्ता के हस्तांतरण में सीमित होता गया। स्वाधीनता आन्दोलन के मध्यवर्गीय नेतृत्व ने जनता के हित से जुडे प्रश्नों से उसे काटते हुए, आजादी के बाद उन सवालों के हल की बात करते हुए राजसत्ता के हस्तांतरण में सीमित कर दिया, अपने समय में अपने लेखों, उपन्यास - कहानियों में प्रेमचंद ने जिसका सशस्त प्रतिवाद किया था। 'आहुति' कहानी की उनकी नायिका तो यहाॅ तक कहती है कि ऐसी आजादी से तो आजादी का न आना बेहतर होगा। जॉन की जगह गोविन्द गद्दी पर बैठ जाय, इसे में आजादी नहीं मानती। जो आजादी देश को मिली, उस पर फैज़ अहमद 'फैज़' की टिप्पणी भी

''यदण - दाग उजाला, य' शन - गड़ीदा सहर,
वो जिसका इंतजार हमें था, य' वो सहर तो नहीं।''

आजादी मिलने के बाद, बनाए इसके कि हाशिए पर डाल दिए गए सवाल शासकवर्ग की मुख्य चिंता बनते, शासक वर्ग की मुख्य चिंता बना किसी भी तरह सदृश्यप्राप्त राजसत्ता को बनाए और बचाए रहना। परिवर्तन और विकास के चित्र भी उभरे परंतु सतहपर। साधारण जन तक उसके लाभ नहीं पहुँचे। इसी सन का परिणाम है, मोहभंग और उससे उपजा राष्ट्रीय जीवन का त्रासद यथार्थ - जन- असंतोष, नव - अभियान, अनिश्चय और अराजकता - राष्ट्रीय जीवन में भी और साहित्य में भी।

आइए, संक्षेप में विमर्श के मुख्य बिंदुओं पर दृष्टिपात करें। जहाॅ तक दलित विमर्श का प्रश्न है वह लंबे समय से चल रहा है, परंतु महाराष्ट्र में दलित साहित्य के उदय के समय विचार के जो बिंदु विमर्श के केंद्र मे आए थे, लगभग वही बिंदु आज भी मुख्य बने हैं - मसलन दलित लेखन और दलित रचनाकार की अपनी शिनाख्त का मुद्दा स्वानुभूति और सहानुभूति का प्रश्न, वर्ग और वर्ण की समस्या, दलित साहित्य के अपने सौंदर्यशास्त्री की अहमीयत, स्वरूप और चरित्र का सवाल आदि दृष्टव्य है कि इन मुद्दों पर मतभेद के आयाम हैं, जिनका संबंध दलित और उनके पक्षधर गैर दलित रचनाकारों - बुद्धिजीवियों से ही नहीं - दलित रचनाकार बुद्धिजीवियों से भी है। सर्वसहमति नहीं बन पायी है इन्हें लेकर विमर्श विपथित भी हुआ है, उसमें कडवाहट भी आयी है कभी - कभी तो ऐसा एहसास भी होता है कि मानों

प्रतिपक्षी सवर्ण मानसिकता वाले यथास्थितिवाद के पोषक और विद्यमान भेदभाव और नितांत अमानवीय सोच पर आधारित सामाजिक संरचना को धर्म और धर्मग्रंथो का हवाला देकर सनातन बनाए रखने की कोशिश करनेवाले मनुवादी नहीं, दलित ही तो और दलित चेतना के पक्षधर ये दलित और गैर दलित रचनाकार और बुद्धिजीवी ही है यह स्थिति चित्य है। कोशिश होनी चाहिए कि पूर्वाग्रहों हटधर्मी और अहम्भाव से उठकर सवादधर्मिता के स्तर पर मतभेदों को दूर किया जाय। संवाद के मायने हैं, मुक्त मन से पक्ष - प्रतिपक्ष के तर्कों को सुना समझा जाए तथा तर्क सम्मत और तथ्य सम्मत को स्वीकार किया जाय। जरूरी और गैर जरूरी विमर्श में फर्क किया जाए। मूलवर्ती प्रश्न वर्तमान सामाजिक संरचना को बदलने का है ताकि आदमी की पहचान वर्ग, वर्ण, जाति, ऊँच-नीच आदि से न हो कर आदमीयत के पैमाने पर हो और इस प्रश्न पर मनुवादियों को छोड कर कहीं कोई मतभेद नहीं है।

अधिक गंभीर और चिंत्य बात दलित रचनाकारों बुद्धिजीवियों की सोच और व्यवहार के अपने अतर्विरोध है जिनके साक्ष्य दलित लेखको ने स्वयं अपनी आत्मकथाओं में दिये हैं। आत्मलोचन और आत्मसंघर्ष के क्रम में ही उनसे उभरा जा सकता है, जिस की जरूरत है। विमर्श के जो मुख्य मुद्दे ऊपर बनाए गये हैं, दलित रचनाकार बुद्धिजीवी उनपर भी भिन्न मत रखते हैं। संवाद मुक्त मन से किया जानेवाला संवाद संजीदगी से किया गया आत्मलोचन ही एकमात्र उपाय है - विचार और व्यवहार के अतर्विरोधों को दूर करने का पूरी सदी हमारे सामने है हम क्या ऐसा कर पायेंगे? हम तो चाहते हैं कि नई सदी समता सदी बने। राष्ट्र के माथे पर लगा वर्णगत भेदभाव का कलंक धुले। इस ज्वलंत प्रश्न पर संप्रति इतना ही।

जहाँ तक आदिवासी समाज का प्रश्न है - आदिवासी जीवन - संदर्भ लगभग उपेक्षित रहे है हमारी रचनाशीलता में। सबसे कम लिखा गया है उन पर। जरूरी है - आदिवासी जीवन - संदर्भ, उनकी अस्मिता और हक के सवाल विमर्श की मुख्यधारा में आए। इधर जो कुछ नया सामने आया है, और आ रहा है, आदिवासी समाज के बीच से उनके स्वर उभर रहे हैं। दलित - लेखकों ने अब खुद - अपने हाथ में कलम पकड़ी - दलित - लेखन की शिनाख्त समूचे देश में हुई। हम उम्मीद करते हैं - आदिवासी कलम भी, समय के पट पर ऐसी इबारत लिखेगी, जिसे उसी संजीदगी से पढ़ा और समझा जाएगा, जिस संजीदगी से दलित साहित्य आज पढ़ा जा रहा है।

स्त्री - विमर्श का मुद्दा भी विपथित - विमर्श के दायरे में है। स्त्री - अस्मिता का प्रश्न हो - स्त्री - मुक्ति का प्रश्न हो, उसकी दिशाएँ स्पष्ट नहीं हैं। स्वयं स्त्री - रचनाकारों में भी उन्हें लेकर एक मत नहीं है। इस तरह के स्वर भी उठ रहे हैं कि स्त्री - अस्मिता और स्त्री - मुक्ति के सवाल को कथाकथित नारीवाद की सोच से अलग किया जाय। नारीवादी लेखन और स्त्री - जीवन संदर्भों से जुडे लेखन में फर्क किया जाय। स्त्री - मुक्ति का मुद्दा स्त्री बनाम पुरुष के मुद्दे के रुप में भी सामने लाया जा रहा है, जिस पर स्त्री रचनाकारों - विमर्शकारों में ही भारी मतभेद है। कुछ के अनुसार मुद्दा स्त्री बनाम पुरुष के बजाय यह होना चाहिए कि स्त्री - पुरुष संबंधो में तमाम कारणों से जो विकृति, असंतुलन, विषमता आई है, उसके खिलाफ कोशिश इस बात की हो कि स्त्री - पुरुष संबंध समरस बनें दोनों के वजूद रहें और समरस - सहभागिता का जीवन <u>जिएँ</u>। मुक्ति बंधनो से हो, <u>कुठार बंधनों</u> और विकृतियों पर चले ना कि स्त्री - पुरुष संबंधों पर। ताकि प्रकृति की लय भी बनी रहे और संसार भी चलता रहे। स्त्री - विमर्श की एक सीमा उसका मध्यवर्गीय दायरे में सिमटा होना भी है मुक्ति का प्रश्न स्त्री मात्र की मुक्ति का प्रश्न है, उस स्त्री की मुक्ति का भी जो मुक्ति को जानती समझती भी रही और उस स्त्री की मुक्ति का भी जो गुलामी में सुख का अनुभव करते हुए संस्कार बद्धता में जी रही है। मेरे मत से साइमन - द - बुआर से अधिक महादेवी वर्मा की 'श्रृंखला की कडियाँ' उपादय होगी, स्त्री विमर्श के संदर्भ में। बहरहाल स्त्री अस्मिता या मुक्ति का सवाल इसी सदी में हल हो। यह सदी स्त्री मुक्ति सदी भी बने।

जहाँ तक वैश्वीकरण से उपजी चुनौतियों का प्रश्न है हम कह चुके हैं - प्रतिरोध की रचनाधर्मिता ही उसका प्रतिपक्ष है। जो भी शुभ - सुंदर बचा है उसे हर कीमत पर बचाना चाहिए। बिखरे प्रतिरोध को सहान करने की जरूरत हैं। वंचित, उपेक्षित, बहुसंख्यकजन इस मुहीम में हमारा सबसे बडा संकल्प है। जरूरी है कि उनके पक्ष में हमारा लिखा हुआ उन तक उनकी बोली वाणी में भी पहूँचे। संकट गंभीर साहित्य पर भी है बाजार उसे हाशिये पर डाल रहा है। रोमांचक, फुटपाती साहित्य के प्रति रूझान बढ़ रही है। छपा हुआ शब्द हाशिए पर जा रहा है साहित्यिक अभिरूचि का क्षरण हो रहा है बाजार ने गंभीर चुनौतियाँ फैंकी है जिनसे संजीदगी और पूरी निष्ठा से निपटने की जरूरत है। साहित्य और जनता के बीच चौडी होती खाई को भी पाटना है। समय भी कठिन है और चुनौतियाँ भी वास्तविक है। भारतीय भाषाओं की रचना धर्मिता में इस बात के साक्ष्य है कि हमारे तमाम रचनाधर्मी हर तरह के दबाव और प्रलोभनों से ऊपर उठकर जनधर्मी आदमी और आदमीयत के पक्ष में खडी रचनाधर्मिता के लिए चुनौतिया से टकरा रहे हैं। चुनौतियाँ है तो उनसे टकराने का हौसला भी है। आदमी और आदमी के पक्ष की रचनाधर्मीता को कोई भी शक्ति विनष्ट नहीं कर सकती, हमें इसका विश्वास है।

शिवकुमार मिश्रा

•••

स्वातंत्र्योत्तर संस्कृत साहित्यात प्रतिबिंबित आधुनिकतावाद - (ग्रामगीतामृतम्च्या आधारे)

प्रा. पंकजा वाघमारे



संस्कृतभाषा ही देववाणी आहे, ती अत्यंत प्राचीन आहे. विश्वातील एक अत्यंत रसाळ आणि परिपूर्ण भाषा संस्कृतच आहे हे विधान सर्वमान्य आहे. संस्कृतचे अत्यंत समृद्ध असे वैदिक आणि लौकिक साहित्य पाहिल्यावर आश्चर्य वाटल्याशिवाय राहत नाही. संस्कृत साहित्याच्या विशालतेमुळे आणि व्यापकतेमुळे वैदिक आणि लौकिक अशा दोन खंडांमध्ये त्याची विभागणी केलेली आहे.

विश्वातील सर्व धर्मांपैकी वैदिक धर्मच असा एक धर्म आहे. जो विश्वबंधुत्वाची शिकवण देतो, त्याचप्रमाणे सर्व धर्मांचा आदरदेखील तो करतो. अशा भावनेने ओत-प्रोत साहित्याचे अनुशीलन आज सगळीकडे अशांततेने व्यापलेल्या आणि कलहपूर्ण वातावरणात अत्यंत उपयुक्त होईल.

तसेच लौकिक संस्कृत साहित्य देखील अत्यंत व्यापक आणि आनंददायी आहे. भारतीय संस्कृतीच्या विचारधारेचे प्रतिबिंब आपल्याला संपूर्ण संस्कृत साहित्यात पहायला मिळते. कोणतेही राष्ट्र आपल्या संस्कृतीला आणि मानवी मूल्यांना विसरून जिवंत राहू शकत नाही. संस्कृतीची आणि मानवी मूल्यांची जोपासना करत आपल्या राष्ट्राला खऱ्या अर्थाने जिवंत ठेवण्याचे अपूर्व कार्य संस्कृत साहित्याने केलेले आहे आणि म्हणूनच

यथा पयोधेर्लहरी प्रसूता सुधा सुराणाममृतत्वहेतू: ।

तथैव गीर्वाणसुधाऽपि भूयात् नवीन सारस्वतवीचिभूतेः ॥

अर्थ -ज्याप्रमाणे देवांना अमरत्व प्रदान करण्याच्या हेतूने समुद्राच्या लाटांमधून अमृत निर्माण झालं तद्वतच नवीन सारस्वताला जीवदान देण्याच्या हेतूने हे संस्कृतभाषारूपी अमृत निर्माण झालं.

या प्रशंसोक्तीकडे पाहिल्यास, सर्व भाषांची पोषिणी असलेल्या या संस्कृत भाषेची निर्मिती खरोखरच नवीन साहित्याला जीवदान देण्यासाठीच झाली असे म्हटल्यास अतिशयोक्ती ठरणार नाही.

संस्कृत साहित्य हे 'उपजीव्य साहित्य' आहे. या साहित्यावर आधारित अनेक ग्रंथ वेगवेगळ्या भाषांमधून निर्माण झाले. ही वस्तुस्थिती असली तरी संस्कृत साहित्य हे प्राचीन आहे. गेली कित्येक शतके संस्कृतात नवीन साहित्यनिर्मिती होत नाही असा एक फार मोठा आक्षेप संस्कृत साहित्यावर घेतला जातो. परंतु असा आक्षेप घेणाऱ्यांच्या डोळ्यांत अंजन घालणारी एक घटना मागील महिन्यात घडली. दि.१८ डिसेंबर २००८ रोजी अत्यंत मानाचा समजला जाणारा ४२ वा 'ज्ञानपीठ' पुरस्कार संस्कृतचे आदरणीय विद्वान पद्मश्री म.म.डॉ.सत्यव्रत शास्त्री यांना मिळाला. संस्कृतभाषेच्या वाङ्मय निर्मितीसाठी हा पुरस्कार मिळणं हा डॉ.सत्यव्रत शास्त्रींबरोबरच संस्कृत भाषेचा सन्मान तर आहेच परंतु संस्कृतातील आधुनिक वाङ्मयनिर्मितीवरील आक्षेपाला हे चोख प्रत्युत्तर आहे. डॉ.सत्यव्रत शास्त्रींची ग्रंथसंपदा ही स्वातंत्र्योत्तर काळातीलच निर्मिती आहे.

१) श्रीबोधिसत्त्वचरितम् (१९६०)
२) Essays on Indology (१९६३)
३) श्रीगुरूगोविन्दसिंहचरितम् (१९६७)
४) इंदिरागांधीचरितम् (१९७६)
५) श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् (१९९०)
६) पत्रकाव्यम् (१९९४)
७) सुभाषितसाहस्री (१९९८)

आणि इतरही अनेक ग्रंथांची त्यांनी रचना केली आहे. त्याचबरोबर 'डिस्कव्हरी ऑफ इंडिया' या ग्रंथाच्या सात खंडांचे प्रकाशन दि.१९ नोव्हेंबर २००५ रोजी झाले. आधुनिक काळात महाकाव्य, खंडकाव्य आणि पत्रकाव्याची निर्मिती करणारे डॉ.सत्यव्रत शास्त्री हे एकमेवाद्वितीय आहेत.

स्वातंत्र्योत्तर काळात ज्या अनेक संस्कृत कवींनी अप्रतिम अशा ग्रंथरचना केल्या त्यामध्ये प्रामुख्याने श्री.माधवराव डाऊ, श्री.गं.बा.पळसुले, लोकनायक श्री.अणे, श्री. रेणापुरकर, श्री. ज्ञानेश्वर साधू, श्री. रामशास्त्री शेवाळकर, श्री. शेवडे आणि प्रज्ञाभारती डॉ.श्री.भा.वर्णेकर या सर्वांचे नाव अत्यंत आदराने घेतले जाते. बहुमोल आणि बहुविध वाङ्मयीन आणि सांस्कृतिक कार्यासाठी डॉ.श्री.भा.वर्णेकरांना अनेक पुरस्कार देखील प्राप्त झालेत. साहित्य अकादमी पुरस्कार (१९७४), सुरभारती-कंठाभरण (१९७७), भारतपुत्र (१९८३), कालिदास पुरस्कार (१९८३), राष्ट्रपती पुरस्कार (१९८९), प्रज्ञाभारती (१९८९), महाराष्ट्र गौरव (१९९०) इ. अनेक पुरस्कारांनी त्यांना गौरविण्यात आलेले आहे. 'शिवराज्योदयम्' हे त्यांचे महाकाव्य, 'शिवराज्याभिषेकम्' हे सात अंकी नाटक, 'विनायक

वैजयंती', 'जवाहर तरंगिणी' इ. सहा खंडकाव्य, स्फुट काव्यसंग्रह आणि तीन अनुवादकाव्य ही त्यांच्या बहुविध ग्रंथांपैकी काही प्रातिनिधिक उदाहरणे. श्री. वर्णेकरांचे साहित्य म्हणजे विस्तृत असे वाङ्मयविश्वच आहे. संस्कृत भाषा आणि संस्कृतच्या साहित्याची ही चैतन्यमयी विचारधारा वर्तमान युगात देखील दैदिप्यमान करण्याचे फार मोठे अलौकिक कार्य डॉ. वर्णेकरांनी केले आहे त्यात संशय नाही.

वंदनीय राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराजांनी रचलेली 'ग्रामगीता' भारतातच नव्हे तर संपूर्ण विश्वातील तरूणांना, नवीन समाजाच्या निर्मितीची इच्छा करणाऱ्यांना, विधायक कार्य करणाऱ्यांना, त्याचप्रमाणे साहित्यीकांना प्रेरणा आणि स्फूर्ती प्रदान करणारा अपूर्व ग्रंथ आहे. संपूर्ण भारतातील संत साहित्यात ग्रामगीतेचे स्थान अभूतपूर्व आहे. या ५,७०० ओव्यांचा सत्वांशरूप असलेला, ४१ अध्याय आणि १८६९ श्लोकांनी युक्त असा 'ग्रामगीतामृतम्' हा अनुवाद अमृतवाणी संस्कृत भाषेत करण्याचे महान कार्य डॉ.श्री.भा.वर्णेकर यांनी केले आहे.

ग्रामगीतेचा हा अनुवाद करत असतांना, इतर भाषांच्या अनुवादित साहित्यामुळे जसे त्या त्या भाषेचा साहित्यविस्तार करण्याचे कार्य केले आहे तसेच या अनुवादाने देखील संस्कृत साहित्याचा विस्तार करण्याचे मौलिक कार्य केले आहे. या अनुवादाचे सगळ्यात महत्त्वाचे वैशिष्ट्य म्हणजे हा शब्दश: अनुवाद नसून फक्त त्यांतील सत्वांशच घेतलेला आहे. त्यामुळे राष्ट्रसंतांच्या मूळ विचारातील आशय अबाधित ठेऊन, त्याच्या आधाराने एक स्वतंत्र संस्कृत ग्रामगीता वाटावी अशी रचना असे या ग्रंथाचे स्वरूप आहे. राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराजांच्या विचारांना संस्कृत भाषेचा अपूर्व साज चढविल्यामुळे डॉ.वर्णेकरांची ही 'ग्रामगीता' अभिनव बनली आहे. यामध्ये सर्व धर्मांचा समन्वय, विश्वशांतीचा उपाय, लोकसुधारणा, आत्मोन्नती व ग्रामोन्नती साध्य करून प्रत्येक गाव व नागरिक स्वावलंबी, स्वयंशासित व स्वयंपूर्ण बनविण्याचे शास्त्र, लग्न, मृत्यू इ. चे तत्त्वज्ञान, एकूणच मानवी जीवनयात्रा कशी सफल होईल असे सर्व सक्रीय तत्त्वज्ञान भरलेले आहे.

मूळ ग्रामगीतेचे मुख्य वैशिष्टय म्हणजे तिचे पद्य हे समजायला अत्यंत सोपे आहे आणि रचना अत्यंत आकर्षक आहे. सामान्य माणसाच्या पचनी पडावे असे हे तत्त्वज्ञान असून राष्ट्रसंतांनी दैनंदिन जीवनातले दाखले दिल्यामुळे सर्वांना आवडेल असेच हे काव्य आहे. डॉ.वर्णेकरांनी देखील अत्यंत सोप्या आणि दैनंदिन वापरातल्या संस्कृत शब्दांचा वापर करून याचा अनुवाद केलेला असल्यामुळे हा अनुवादही सर्वसमान्यांना समजेल, पटेल आणि रूचेल असाच आहे. हे सर्व करत असतांना मूळ आशय मात्र अबाधित राहिल्यामुळे डॉ.वर्णेकरांच्या रचना कौशल्याचा, कविश्रेष्ठत्वाचा वाचकाला प्रत्यय आल्याशिवाय राहत नाही. त्यामुळेच 'ग्रामगीतामृतम्' या त्यांच्या ग्रंथाने संस्कृत साहित्यात स्वतंत्र असे स्थान निर्माण केले आहे.

भारतातील ८०% जनता खेड्यात राहते. त्यामुळे म.गांधीनी देखील 'खेड्याकडे चला' असा संदेश दिला होता. कारण देशाची सर्वांगीण प्रगती साधायची असेल तर खेडी स्वयंपूर्ण व्हायला हवीत आणि ग्रामीण जनतेची प्रगती झाल्याशिवाय देशाचा विकास अशक्य आहे. हे भारतीय लोकशाहीचे वास्तव आहे. फार प्राचीन काळात इ.स.पूर्व तिसऱ्या शतकात राजनीतीवरील एक संस्कृत ग्रंथ निर्माण झाला तो म्हणजे 'कौटिलीय अर्थशास्त्र'. या ग्रंथात कौटिल्याने देखील आदर्श आणि स्वयंपूर्ण खेड्यांची रचना केली जावी असे म्हटले आहे. राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराजांना देखील हे मान्य होते की, खेड्यांना आदर्श बनविले तरच देश आदर्श बनणार आहे म्हणूनच त्यांनी अत्यंत मार्गदर्शक अशा ग्रामगीतेची रचना केली. म्हणूनच ग्रामगीतेमध्ये ग्रामांना केंद्रबिंदू मानले आहे. पण इतरही अनेक आधुनिकतावादाशी संवाद साधणाऱ्या विषयांचा त्यात ऊहापोह केलेला आहे.

सर्वांत प्रथम विश्वधर्म: या अध्यायात डॉ. वर्णेकर काय म्हणतात ते पाहणे उचित ठरेल. डॉ. वर्णेकरांच्याच भाषेत सांगायचे झाल्यास-

देशभक्ति किंवा राष्ट्रनिष्ठा या भावनेचा भारतीय समाजात सर्वथा अभाव होता. देशभक्तीपरायण इंग्रजांच्या संपर्काने किंवा इंग्रजी साहित्याच्या संस्कारानेच त्या भावनेचा संचार भारतीय समाजात झाला. तथापि राष्ट्रभक्ति किंवा देशभक्ती एतद्देशीयांच्या अन्त:करणात कधी अंकुरित झालीच नव्हती असे सरसकट विधान मात्र निरपवादपणे ग्राहय मानता येत नाही. प्राचीन संस्कृत साहित्यात या राष्ट्रातील पवित्र नद्या, पर्वत, तीर्थक्षेत्रे इत्यादिकांविषयी पराकाष्ठेची भक्ती व्यक्त झालेली दिसून येईल त्यामध्ये व्यक्त झालेल्या उदात्त भावना जगातील कोणत्याही राष्ट्राच्या साहित्यात व्यक्त झालेल्या सहसा आढळणार नाहीत. 'माता भूमि: पुत्रो अहं पृथिव्या: ।' यासारख्या वेदवचनातून किंवा 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' यासारख्या हृद्य सुभाषितांतून भारतीयांची राष्ट्रभक्ती उत्तम प्रकारे व्यक्त झाली आहे. (पान नं.३३५ अर्वाचीन संस्कृत साहित्य).

त्याचबरोबर 'वसुवैध कुटुम्बकम्' ही संकल्पनादेखील भारतीयांना नवी नाही. सध्या संपूर्ण जगात ज्या एकाच विषयाची चर्चा होते आहे तो म्हणजे दहशतवाद ! मुंबईवर अतिरेकी हल्ल्यांच्या पार्श्वभूमीवर पुन्हा एकदा विश्वबंधुत्वाच्या कल्पनेने जोर धरला आहे. यासंदर्भात ग्रामगीतेमध्ये दहशतवादाबद्दल अत्यंत परखडपणे डॉ.वर्णेकर म्हणतात.

विलुप्ता करूणा मैत्री प्रेम - सौहार्द - वर्धिनी ।

प्रवृद्धा शत्रुताऽन्योन्यं हिंसा क्रौर्य प्रवर्तिनी ॥
संख्याबलं श्रेष्ठतमं मतं धर्मबलं बत ।
परधर्म - विघातार्थं धर्मयुद्धानि चक्रिरे ॥

(श्लोक २५-२६, अध्याय २८ वा, ग्रामगीतामृतम्)

यातील खालची ओळ अत्यंत मार्मिक आहे की दुसऱ्याच्या धर्माचा घात करण्यासाठी धर्मयुद्ध केली जात आहेत. संपूर्ण जगाला भेडसावणाऱ्या दहशतवादाचे मूळ यातच आहे असे दिसून येते.

त्यांवरील उपायही पुढे लगेचच सांगितला आहे.
यावद् एकात्मता तत्त्वं न याति दृढ - मूलताम् ।
लोकेषु तावद् विद्वेषः निर्मूलो न भविष्यति ॥

(श्लोक ३९, अध्याय २८ वा, ग्रामगीतामृतम्)

एकात्मतेची भावना, विश्वबंधुत्वाची भावना वाढीला लागणे अत्यंत आवश्यक आहे त्याशिवाय या समस्या सुटणार नाहीत हे नक्की आहे आणि त्याचबरोबर सर्वांना अहिंसेचे महत्त्व देखील पटवून द्यायला पाहिजे कारण अहिंसा हाच परमधर्म आहे.

अहिंसा परमो धर्मः सत्य-नीति-समन्विता ।
अधर्मः परमो हिंसा द्रोहो वा साम्प्रदायिकः ॥

(श्लोक क्र.२८, अध्याय २८, ग्रामगीतामृतम्)

संपूर्ण जगाला आज या विचारांची गरज आहे. अहिंसेचे महत्त्व जेव्हा जगाला पटेल तेव्हाच संपूर्ण जगात विश्वबंधुत्वाची संकल्पना वाढीला लागेल आणि दहशतवादासारख्या अवघड समस्यांचे निराकरण होऊ शकेल. त्यामुळे विश्वधर्म सांगणारे त्यांचे विचार हे अत्यंत उपयुक्त आहेत असे म्हणता येईल.

भारत हे धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र आहे. विविध धर्मांचे, पंथांचे, जातीचे लोक हे अत्यंत सुखाने एकत्र राहतात. परंतु कधीकधी उसळणाऱ्या जातीय दंगलींनी मन सुन्न होते. काही धर्मांध लोक अशी अशांतता पसरवतात त्या सर्वांनाच ग्रामगीता सांगते-

ग्रामे ग्रामे सर्वधर्म - समभावो यदोद्भवेत् ।
तदा हि स्वर्गलोकोऽसौ भूलोकेऽवतरेद् ध्रुवम् ॥

(श्लोक ४०, अध्याय २८, ग्रामगीतामृतम्)

सध्याच्या काळात या मौल्यवान विचाराचे पुनरवलोकन होणे गरजेचे आहे. तरच भारतात धर्मनिरपेक्षता बळकट होईल.

यानंतर सर्वांत महत्त्वाचा त्यांचा विचार वाटतो. तो म्हणजे स्त्रियांसंबंधीचा ! 'महिलोन्नतिः' या एका संपूर्ण अध्यायात स्त्रियांविषयीचा त्यांनी केलेला विचार हा हृदयस्पर्शी आहे. स्वातंत्र्योत्तर काळात तर सर्वांनी अंमलात आणावा असा हा विचार आहे. स्त्री आणि पुरूष ही एका रथाची दोन चाकं आहेत असं आपण म्हणतो. पण जोपर्यंत देशातील सर्व स्त्रिया सुशिक्षित होत नाहीत तोपर्यंत देशाची सर्वांगीण प्रगती अशक्य आहे. आज आपला भारत महासत्ता होण्याच्या मार्गावर आहे. असे असतांना, देशातील अशिक्षित स्त्रियांची आकडेवारी ही धक्कादायक आहे. अजूनही १००% स्त्रिया सुशिक्षित झालेल्या नाहीत. ग्रामगीता म्हणते -

यथार्थतो विजानद्भिः देश-काल-परिस्थितिम् ।
यथा पुत्रस् तथा पुत्री संस्कर्तव्या सुशिक्षणैः ॥

(श्लोक ३३, अध्याय २०, ग्रामगीतामृतम्)

डॉ. वर्णेकरांनी अत्यंत सोप्या भाषेत केलेली ही रचना अत्यंत मार्गदर्शक अशीच आहे ते पुढे म्हणतात -

द्विचक्रस्य रथस्येव समाजस्य प्रवर्तनम् ।
द्वयोर् भवति तुल्यत्वे स्त्रियश्च पुरूषस्य च ॥
(श्लोक ३८, अध्याय २०, ग्रामगीतामृतम्)
पुरूषाणाम् इव स्त्रीणां, सर्वांगीणा समुन्नतिः ।
यत्र स्यात् तत्र, राष्ट्रे हि स्वर्गः प्रावतरिष्यति ॥

(श्लोक ३६, अध्याय २०, ग्रामगीतामृतम्)

पुरूषांबरोबरच महिलांची उन्नती झाली तरच त्या राष्ट्रात स्वर्ग अवतरेल हा विचार अत्यंत महत्त्वाचा आहे. हा आधुनिक विचार सर्वांना प्रेरणादायी आहे.

ग्रामगीतेच्या रचनेला बराच कालावधी लोटला असला तरी त्यातील विचार मात्र अत्यंत आधुनिक आहेत. गावाचे आरोग्य कसे असावे या संदर्भातील एक विचार आजकालच्या तरूणांसाठी अत्यंत मार्गदर्शक आहे. धकाधकीच्या जीवनात आणि स्पर्धेच्या युगात माणसाची जीवनशैली बदलली दिवसाची रात्र आणि रात्रीचा दिवस आणि 'फास्ट फूड' चे सेवन असा दिनक्रम असणाऱ्यांना ते सांगतात-

उपहार-ग्रहे शुक्तं यातयामं च भक्षणम् ।
प्रदीर्घ-निद्रा दिवसे रात्रौ जागरणं भृशम् ॥
धातु-प्रकोपनं देहे जीवनं नियमाऽतिगम् ।
निदानं सर्वरोगाणाम् आयुर्वेदे निरूपितम् ॥

(श्लोक १०, ११, अध्याय १४, ग्रामगीतामृतम्)

त्याचबरोबर ग्रामाचे आरोग्य कसे असावे या संदर्भातही त्यांनी सविस्तर मार्गदर्शन केले आहे. 'ग्रामरक्षणम्' आणि 'ग्रामारोग्यम्' या अध्यायातील त्यांचे विचार अत्यंत कालसंवादी आहेत. सध्याच्या ग्रामसेवकांनी जर अशा पद्धतीने कार्य केले तर खरंचच एक 'आदर्श

ग्राम' निर्माण होईल यात शंका नाही. ज्या देशातील जनता अत्यंत परिश्रम करते त्याच देशाची प्रगती होते हे सांगत असतांना त्यांनी 'श्रमप्रतिष्ठा' या अध्यायात श्रमाचे महत्त्व पटवून दिले आहे -

श्रमप्रतिष्ठा संस्थाप्या व्यवहारे जने जने ।
ग्रामे ग्रामे सुप्रचार्या श्रमनिष्ठा दिने दिने ॥

(श्लोक २६, अध्याय १८, ग्रामगीतामृतम्)

अत्यंत आकर्षक आणि सहज समजेल अशा रचनेचे कौशल्य डॉ.वर्णेकरांना साधले आहे यांतून त्यांच्या कविश्रेष्ठत्वाची प्रचिती येते. पुढे ते म्हणतात -

यत्र सर्वे सुसंपन्नाः सर्वे सम्यक् सुशिक्षिताः ।
सर्वे सर्वो दयापेक्षाः ग्राम आदर्श एव सः ॥

(श्लोक ३९, अध्याय १८, ग्रामगीतामृतम्)

असा 'आदर्श ग्राम' निर्माण झाला तर कोणतेही संकट देशावर आले तरी त्याचा देशाच्या प्रगतीच्या वेगावर यत्किंचितही परिणाम होणार नाही. असेच जणू त्यांना यांतून सुचवायचे असावे.

त्यानंतर अत्यंत महत्त्वाचा विचार ते 'दलितसेवा' या अध्यायात मांडतात. आपणच आपल्या माणसाला अस्पृश्य म्हणतो हे निंदनीय आहे -

अस्पृश्या इति चाऽस्माभिः तुच्छत्वेन तिरस्कृताः ॥
(श्लोक ३०, अध्याय २९, ग्रामगीतामृतम्)
'अस्पृश्यता' हे सहावे महापातक आहे असे देखील ते म्हणतात.
न जातु कलहं कुर्यात् विधर्मीयैर् अकारणम् ।
तथाऽन्य - जाति - पक्षाणां न कुर्याद् दोषदर्शनम् ॥

(श्लोक ४८, अध्याय २९, ग्रामगीतामृतम्)

असे आचरण प्रत्येकाने ठेवले पाहिजे. सर्वांनी जर वरील विचार अंमलात आणायचा ठरविला तर खऱ्या अर्थाने आपण एकमेकांचा आदर करू शकू.

राष्ट्रसंतांसारख्या थोर व्यक्तीच्या विचारांवर अंमल झाला असता तर, सर्वांनीच तो अंगीकारला असता तर कदाचित स्वातंत्र्योत्तर काळातही 'खैरलांजी हत्याकांड' घडलेच नसते.

दलित सेवेसारखे अनेक आजच्या काळातही उपयुक्त असे विचार जसे की, प्रयत्नप्रभावः, जीवन-कलाः, निर्धन-सधनत्वम्, गोवंशसुधारः, संघटनशक्तिः, सेवासामर्थ्यम्, आचार-प्राबल्यम्, ग्रामनिर्माणकला, संसर्गप्रभावः इ. आधुनिक काळात बहुचर्चित विषयांवर यथोचित मार्गदर्शन वरील अध्यायांतून त्यांनी केले आहे. गरज आहे ती फक्त ग्रामगीतेतील हा आधुनिकतावाद अंगिकारण्याची. असे केल्यास नक्कीच 'स्वर्गतुल्य' असा हा भारत देश होईल यात शंका नाही.

समाज-रचना भूयात् समस्त - समताऽन्विता ।
स्यात् स्वयंपूर्णता ग्रामे गृहाऽन्न - वसनाऽऽदिषु ॥
विलीय शोषणं दैन्यं दारिद्र्यं पाप-पंचकम् ।
भजन्तु सकला ग्रामा राष्ट्रेऽस्मिन् स्वर्गतुल्यताम् ॥

(श्लोक ३७, ३८, अध्याय ४१, ग्रामगीतामृतम्)

आधुनिक काळातही या विचारांचे औचित्य असून काळाच्या पलीकडे असणारा हा शाश्वत विचार आहे. अनेक विचारवंतांना, अभिप्रेत, मान्य असाच हा विचार आहे. आपल्या देशाचा सार्थ अभिमान असणाऱ्या प्रत्येक भारतीयाने विचारात घेऊन त्यांपासून प्रेरणा घेऊन जीवनात वाटचाल केली तर खरोखरच भारत हा भूवैकुंठ होईल यात शंका नाही.

या ग्रंथाच्या उपसंहारात डॉ.वर्णेकरांनी ग्रामगीता कशी आधुनिक आहे ते सांगितले आहे

श्रेष्ठा संस्कृतभाषाऽसौ भारतस्य सनातनी ।
तस्याम् अनूदिता प्रेष्ठा ग्रामगीताऽधुनातनी ॥

(श्लोक क्र.५ उपसंहार, ग्रामगीतामृतम्)

ग्रामगीतामृतम् हा अत्यंत मधुर आणि सुलभ असा अनुवाद म्हणजे संस्कृतातील अर्वाचीन साहित्यात मैलाचा दगडच ठरला आहे. यातील एक एक पद्य हे अत्यंत अर्थपूर्ण असून या विचारांवर सखोल अभ्यास करण्याची अत्यंत गरज आहे त्यांमुळेच प्रस्तुत विषयावर भरीव आणि मूलगामी संशोधन होणे गरजेचे आहे असे मला वाटते.

***

संदर्भग्रंथसूची :

१) प्रज्ञाभारतीयम् - डॉ. श्री. भा. वर्णेकर.
२) ग्रामगीता - राष्ट्रसंत श्री. तुकडोजी महाराज.
३) अर्वाचीन संस्कृत साहित्य - डॉ. श्री. भा. वर्णेकर.
४) संस्कृत साहित्य का विशद इतिहास - डॉ. पुष्पा गुप्ता.
५) संस्कृत साहित्य का इतिहास - डॉ. ए. बी. कीथ.
६) संस्कृत साहित्य का इतिहास - प्रो. हंसराज अग्रवाल.
७) संस्कृत वाङ्मय कोश (द्वितीय खण्ड) - डॉ. श्री. भा. वर्णेकर
८) संकेतस्थळ -www.satyvrat_shastri.net

●●●

मराठी कवितेतील महानगरीय संवेदनशीलता : एक टिपण

डॉ. वसंत पाटणकर



महानगरीय मराठी कवितेत विसाव्या शतकाच्या पाचव्या-सहाव्या दशकापासून काही कवींमध्ये एक वेगळ्या प्रकारची संवेदनशीलता प्रकट झालेली दिसते. ही संवेदनशीलता महानगरीय जीवनाशी निगडित होती. हिलाच 'महानगरीय संवेदनशीलता' म्हटले जाते. तिच्यामुळे मराठी कवितेला एक वेगळे रूप प्राप्त झाले. या नव्या संवेदनशीलतेची पाळेमुळे कोठे आहेत, मराठी कवितेला या संवेदनशीलतेमुळे कोणती नवी परिमाणे लाभली, तिच्यामुळे मराठी कवितेत कोणते प्रश्न निर्माण झाले. यासंबंधीची काही निरीक्षणे या टिपणात थोडक्यात मांडत आहे.

प्रारंभीच हे सांगायला हवे की साहित्याच्या संदर्भात योजली जाणारी 'महानगरीय संवेदनशीलता' ही एक आशयात्म कोटी आहे. तिच्या साहाय्याने विशिष्ट साहित्यकृतीतील आशयाचे, आशयसूत्राचे स्वरूप कोणत्या प्रकारचे आहे, ते स्पष्ट केले जाते. म्हणजेच तिच्याद्वारे या साहित्याकृतीतील आशय व आशयसूत्रे विशिष्ट संवेदनशीलतेचा आविष्कार करतात, असे सांगितले जाते. ही कोटी पूर्णपणे वर्णनात्मक स्वरूपाची आहे. ही मूल्यमापनात्मक कोटी नव्हे. तिच्या साहाय्याने विशिष्ट साहित्यकृतीतील आशय वा आशयसूत्रे यांचा चांगले-वाईटपणा निश्चित करता येत नाही. 'महानगरीय संवेदनशीलते' प्रमाणेच 'ग्रामीण संवेदनशीलता', 'दलित संवेदनशीलता' अशा काही कोटी मराठी साहित्यसमीक्षेत अस्तित्वात आहेत. याही कोटी वर्णनात्मक स्वरूपाच्या आहेत.

महानगरे हे एक आधुनिक घटित आहे. युरोपच्या संदर्भात बोलायचे झाले तर महानगरे ही एकोणिसाव्या शतकाच्या अखेरीस, खरे तर विसाव्या शतकाच्या प्रारंभीच्या दशकातच अस्तित्वात आली. ही महानगरे भांडवलप्रधान औद्योगिक व्यवस्थेशी संबंधीत आहेत, आणि तिच्या गरजेतूनच ती हळूहळू अस्तित्वात आलेली आहेत. युरोपमधील अठराव्या शतकापासून सुरु झालेल्या औद्योगिक क्रांतीचा ती परिपाक आहेत. आपल्याकडे एकोणिसाव्या शतकाच्या अखेरीस महानगरे निर्माण होण्याची प्रक्रिया सुरु झालेली असली, तरी ज्यांना खरोखरीच महानगरे म्हणता येतील, अशी शहरे अस्तित्वात यायला विसाव्या शतकाचे पाचवे-सहावे शतक उजाडले आहे. याच संदर्भात आणखी एक महत्त्वाची गोष्ट लक्षात घ्यायला हवी की युरोपमधील साहित्य, कला या क्षेत्रांत निर्माण झालेला आधुनिकवाद महानगरांच्या जन्मकाळाशी संबंधित आहे. मराठी साहित्यातही आधुनिकवादाचे पडसाद विसाव्या शतकाच्या पाचव्या दशकात उमटू लागले आहेत, हे साम्य लक्षणीय आहे.

महानगरातील विशिष्ट परिस्थितीमुळे येथे दीर्घ काळ वास्तव्य करणाऱ्या माणसांची मानसिक घडण बदलते. या विशिष्ट मानसिक घडणीलाच आपण महानगरीय संवेदनशीलता म्हणतो. उदाहरणार्थ, महानगरातील माणसे, इमारती, दुकाने, वाहने इत्यादी गोष्टींच्या गर्दीतून एकाकीपणाची भावना, व्यक्तित्वलोप झाल्याची जाणीव निर्माण होते. या गर्दीमुळे, प्रदूषणामुळे येथे कोणताही मोकळेपणा, अवकाश नसतो. येथे आपुलकी, ओलावा निर्माण होत नसतो तर तुटकपणा, संवादशून्यता, त्रुटितता आणि प्रसंगी अमानुषता पाहावयास मिळते. महानगरातील बहुतांश गोष्टी यांत्रिकतेशी निगडित असल्यामुळे यांत्रिकता, अमानवीकरण, अमानुषपणा, परात्मता या गोष्टींचा अनुभव येथे येतो. किंवा महानगरातील गतिमानता, तेथील घड्याळाच्या काट्यांबरोबर चालणाऱ्या वेगवान जीवनामुळे सततचा ताण, व्यग्रता, अस्वस्थता जाणवत राहते. सारांश, महानगरीय संवेदनशीलतेचे ठळक विशेष सांगयचे तर ते साधारणपणे पुढिलप्रमाणे आहेत : एकाकीपणा, अर्थशून्यता, पोरकेपणा, अमानवीकरण, अमानुषता, बधीरपणा, व्यक्तित्वलोप, परात्मभाव, असंबद्धता, संवादशून्यता, त्रुटितता, तुटकपणा, सततची व्यग्रता, अस्वस्थता, ताण इत्यादी इत्यादी. ही आशयसूत्रे मुख्यत्वे आधुनिकवादी दृष्टीशी संबंधीत आहेत. हे येथे नमूद करावयास हवे.

महानगरात जगणाऱ्या सर्वच लेखकांवर हा परिणाम सारख्याच पद्धतीने आणि सारख्याच प्रमाणात पडतो, असे म्हणता येणार नाही. परंतु महानगरात वास्तव्य करणाऱ्या अनेक लेखकांवर-कवीवर महानगरीय पर्यावरणाचा कमीअधिक संस्कार होतो. या संदर्भात एक गोष्ट लक्षात घ्यावयास हवी की महानगरात वास्तव करणाऱ्या सर्वच कवींच्या कवितेमधून महानगरीय संवेदनशीलता आविष्कृत झालेली नाही. उदाहरणार्थ, पु. शि. रेगे, शांता शेळके, मंगेश पाडगावकर, वसंत बापट प्रभृती कविकवयित्री. या व अशा अनेक कवींच्या कवितेत अनेकदा महानगरीय अर्थघटक पाहावयास मिळतात, परंतु त्यामुळे त्यांची कविता महानगरीय संवेदनशीलतेचा आविष्कार करते असे म्हणता येणार नाही. महानगरीय संवेदन म्हणजे

कवितेत महानगरीय तपशील येणे, त्यांचे प्राचुर्य असणे नव्हे. हे तपशील फारसे न येताही संवेदन महानगरीय असू शकते. दुसरे असे की, महानरीय संवेदनशीलतेचा आविष्कार हा सामान्यतः आधुनिकवादी किंवा आधुनिकवादाच्या प्रभावाखालील कवींमध्ये अधिक प्रमाणात दिसतो. महानगरीय संवेदनशीलता ही प्रामुख्याने आधुनिकवादी दृष्टीशी निगडीत असल्यामुळे असे घडणे स्वाभविक आहे. अर्थात, काही वेळा रोमँटिक व मानववादी कवींवरही हा प्रभाव पडलेला दिसतो. त्यासंबंधीची चर्चा आपण अखेरीस करणार आहोत.

महानगरीय संवेदनशीलतेची ही रूपे लक्षात घेतली की पठ्ठे बापूरावांची 'मुंबईची लावणी' नगराविषयीच्या स्तिमिततेचा अनुभव व्यक्त करते, महानगरीय संवेदनशीलतेचा नव्हे, हे लक्षात घेणे आवश्यक आहे. एकोणिसाव्या शतकाच्या प्रारंभी मुंबई हे छोटेसे नगर होते. ते कोणत्याही अर्थाने महानगर नव्हते. आधी म्हटले त्याप्रमाणे मराठी साहित्यात जिला महानगरीय म्हणता येईल अशा संवेदनशीलतेचा आविष्कार विसाव्या शतकाच्या पाचव्या दशकापासून मुख्यतः कवितेतून आणि काही प्रमाणात कथांमधून आणि सहाव्या दशकापासून काही प्रमाणात कादंबऱ्यांमधून झालेला आहे. कवितेमध्ये ही संवेदनशीलता प्रथमतः मर्ढेकरांच्या कवितेतून आविष्कृत झालेली दिसते.

आधुनिक मराठी कवितेत महानगरीय संवेदनशीलतेचा आविष्कार वेगवेगळ्या प्रकारे, वेगवेगळ्या रूपात झाला आहे. भिन्न प्रकृतिधर्माच्या कवींवर महानगरीय संवेदनशीलतेचा परिणाम वेगवेगळ्या प्रकारे होणे स्वाभाविक आहे. कवींच्या महानगरीय वास्तवाला झालेल्या प्रतिक्रियांचे साधारणपणे तीन गट आहेत. यांतील पहिल्या गटातील महानगरीय वास्तवाला झालेली प्रतिक्रिया ही अस्वस्थतेची आहे. येथे या महानगरीय वास्तवात बदलणाऱ्या मानवी जगण्याबद्दलची चिंता, तडफड, आकांत मोठ्या प्रमाणात आहे. दुसऱ्या गटातील प्रतिक्रिया ही या परिस्थितीचे विडंबन करणारी आहे. येथे अनेकदा आत्मविडंबनही पाहावयास मिळते. तिसरी प्रतिक्रिया ही या परिस्थितीबद्दल आकांत व्यक्त करत नाही, किंवा या परिस्थितीचे विडंबनही करत नाही. ती महानगरीय वास्तवामुळे मानवी जीवनात होणाऱ्या बदलांचा, त्यातील वेगवेगळ्या अवस्थांचा वेध घेते. ही अधिक व्यक्तिलक्ष्यी स्वरूपाची प्रतिक्रिया आहे. अर्थात, या तिन्ही प्रतिक्रिया म्हणजे हवाबंद कप्पे नव्हेत, हे स्पष्टच आहे. एकाच कवीत त्यांची सरमिसळही झालेली पाहावयास मिळते. महानगरीय वास्तवाला कवींच्या झालेल्या या तीन प्रतिक्रिया आहेत, महानगरीय संवेदनशीलता प्रामुख्याने या तीन प्रकारे आविष्कृत झाली आहे, एवढेच येथे अभिप्रेत आहे.

महानगरीय वास्तवाविषयीची पहिली प्रतिक्रिया ही मर्ढेकरांच्या कवितेत ठाशीवपणे व्यक्त झाली आहे. ही पहिल्या टप्प्यावरची प्रतिक्रिया आहे. या टप्प्यावर मुख्यतः माणसाच्या यंत्रवत, अमानवी, नगण्य होत जाणाऱ्या जीवनाबद्दलची अस्वस्थता आहे. उदाहरणार्थ, 'सकाळी उठोनी', 'मी एक मुंगी, हा एक मुंगी', 'किती तरी दिवसांत' इत्यादी कवितांमधून ही जाणीव बऱ्याच स्पष्टपणे व्यक्त झालेली आहे. मर्ढेकर काही वेळा 'यंत्रमुग्ध' होतात, 'यंत्रयुगातील नवनृत्य' त्यांना आकर्षित करते. महानगराचे प्रसन्न दर्शनही त्यांना काही वेळा घडते. परंतु हा मर्ढेकरी कवितेचा स्थायीभाव नव्हे. उलट या त्रुटित जीवनात 'सलग जमेना एक भावना' किंवा, 'जेथे जातो तेथे। मी माझा सांगाती' असा संवादशून्यतेचा अनुभव येतो. 'काळ्या बंबाळ अंधारी', 'पंक्चरली जरि रात्र दिव्यांनी', 'जिथे मारते कांदेवाडी' अशा कवितांमधून महानगरातील विरूप, बकाल जीवनाचा, वेगवेगळ्या भीतींचा, काळोखाचा प्रत्यय येत राहतो. या सर्व मानवी अवस्थांबद्दलची 'जिवंत तगमग' त्यांच्या कवितेत दिसते. विंदा करंदीकरांच्या कवितेमधूनही यांत्रिकतेची, परात्मतेची जाणीव व्यक्त होत राहते. भीतीची जाणीवही या कवितेत महत्त्वाची आहे. आधुनिक, महानगरीय माणसाच्या वेगवेगळ्या अवस्था पाहून कवी अस्वस्थ होतो, दुभंगून जातो. याच प्रकारची अस्वस्थता, हताशता वसंत आबाजी डहाके, वसंत दत्तात्रेय गुर्जर प्रभृती पुढील कवीमध्ये पहावयास मिळते. हे सर्वच कवी निखळपणे आधुनिकवादी नाहीत. या जाणिवा व्यक्त करताना ही कविता अनेकदा विनोदाचा, उपरोधाचा आश्रय घेते. तेथे दुहेरी प्रतिक्रिया असते. त्यांतील एक म्हणजे महानगरातील विविध घटितांमधून आपल्या विविध मानसिक अवस्था व्यक्त करणे.

महानगरात माणसाच्या वाट्याला येणाऱ्या विशिष्ट परिस्थितीचे विडंबन करणारी दुसरी प्रतिक्रिया ही कालदृष्ट्या मर्ढेकर-करंदीकरांच्या पुढील टप्प्यावरील आहे. ही प्रतिक्रिया मुख्यत्वे अरूण कोलटकर, सदानंद रेगे यांच्या कवितेत मोठ्या प्रमाणात पाहावयास मिळते. कोलटकरांच्या हॉस्पिटलच्या कवितांमधून या परिस्थितीचा दाहक असा प्रत्यय येतो. येथील पेशंटला नाव-गाव अशी कोणतीच ओळख नाही. त्याची ओळख फक्त आरएच पॉझिटिव्ह अशी आहे. कोलटकरांच्या कवितेत महानगरीय जगणे अनेक निर्जीव परंतु आक्रमक प्रसंगी हिंस्र वस्तूंनी वेढून टाकलेले आहे. पहिल्या टप्प्यावरील यांत्रिकीकरण, एकाकीपण, संवादशून्यता, त्रुटितता, अस्वस्थता ही आशयसूत्रे येथे फारशी प्रभावी नाहीत. तसेच तेथील हताशपणाची, चिंतेची जाणीवही येथे नाही. याउलट येथे व्यक्तित्वलोप, अमानवीकरण, खच्चीकरण, वस्तुवतता, परात्मता ही आशयसूत्रे अधिक प्रभावी आहेत. येथे काही प्रमाणात सिनिकल वृत्ती धारण करून आणि काही वेळा तिरकस विनोदाचा आश्रय घेऊन महानगरातील विदारक मानवी स्थितीवर प्रकाश टाकण्यात आला

आहे. या स्थितीचे विडंबन करण्याकडे कल असल्यामुळे येथे वेगळे भावनिक सूर आले आहेत. भावनात्मकतेला अवरोध करणारी, काहीशी थंडपणाकडे झुकणारी अलिप्तता येथे महत्त्वाची ठरली आहे. कोलटकरांचा उपरोधही मर्ढेकरांच्या उपरोधापेक्षा वेगळा आहे. हा उपरोध आधिक विकट, अधिक दचकावून टाकणारा आहे.

महानगरीय परिस्थितीबद्दलची तिसरी प्रतिक्रिया ही आकांत व्यक्त करत नाही किंवा त्या परिस्थितीचे विडंबनही करत नाही. ही परिस्थिती आपल्या जगण्याच्या एक अटळ भाग मानून तिचा शांतपणे स्वीकार या प्रतिक्रियेत आहे. महानगरातील विविध गोष्टीमधून, घटितांमधून त्यासंबंधीच्या आपल्या वेगवेगळ्या मानसिक अवस्था व्यक्त करण्याकडे कल असल्यामुळे ही कविता अधिक व्यक्तिलक्ष्यी स्वरूपाची आहे. येथे महानगर हे कवीच्या आत्म्याचे रूपक बनते, त्याच्या वेगवेगळ्या आत्मिक अवस्थांचा आविष्कार करते. महानगराच्या महानगरातील विविध गोष्टींच्या चित्रणातून, महानगरातील घटितांच्या अनेक असंगत चित्रांमधून काही आधुनिकवादी आशयसूत्रांचा आविष्कार केला जातो. उदाहरणार्थ, महानगरातील व्यक्तीचे एकाकीपण, संवादशून्यता, तिच्या अस्तित्वाची असंबद्धता, अर्थशून्यता, तिची परात्मता, तिची आध्यात्मिक अस्वस्थता इत्यादी. दिलीप पुरुषोत्तम चित्रे, विलास सारंग, मनोहर ओक प्रभृती कवींमध्ये ही प्रतिक्रिया पाहावयास मिळते.

या नव्या संवेदनशीलतेने मराठी कवितेत आशयाच्या अंगाने काही महत्त्वपूर्ण बदल घडवून आणलेच, परंतु त्याचबरोबरीने कमीअधिक प्रमाणात भाषिक व रूपात्म अंगानेही काही महत्त्वाचे बदल घडवून आणले. या संवेदनशीलतेचा आधुनिकवादी दृष्टीशी संबंध असल्यामुळे असे बदल घडणे अपरिहार्यच होते. येथे काव्य भाषेच्या निषिद्धतेच्या सर्व कल्पना येथे नाकारल्या गेल्या. वेगवेगळ्या क्षेत्रांतील, स्तरांतील भाषा; वेगवेगळ्या भाषिक लयी; नव्या वेगळ्या मिथ्स, प्रतिमा-प्रतीके कवितेत दिसू लागली. प्रतिमांमध्ये संवेदनासंकर होऊ लागला.मुक्तशैलीचा वापर वाढला. कवितेच्या बांधणीची तंत्रे व तत्त्वे यांतही बदल झाला. कविता अतार्किक, दुर्बोध होऊ लागली. उपरोध, विरोध, ताण यांबरोबरीनेच निकटन्यास, संदर्भसंपृक्तता, विरूपीकरण, मुक्त साहचर्य कल्पना अशी काही वेगळी रचनातत्त्वेही महानगरीय संवेदनशीलतेला आविष्कार करणाऱ्या कवितेतून पाहावयास मिळू लागली.

या टिपणात ज्या आधुनिकवादी आशयसूत्रांचा पुन्हा पुन्हा उल्लेख केला त्यांतील काही आशयसूत्रे आविष्कृत करणारी आणि महानगरीय संवेदनशीलतशी निगडीत असलेली अशी रोमँटिक व / वा मानववादी वळणाची कविताही मराठीत काही प्रमाणात पाहावयास मिळते. येथे प्रामुख्याने महानगरातील एकाकीपण, तुटलेपण, संवादशून्यता, नगण्यत्व ही आशयसूत्रे प्रभावी असलेली दिसतात. उदाहरणार्थ, गुरुनाथ धुरी, शरद साटम प्रभृती रोमँटिक कवी किंवा सतीश काळसेकर, नामदेव ढसाळ यांसारखे मानववादी कवी. ही रोमँटिक व/वा मानववादी वळणाची अभिव्यक्ती असल्यामुळे तिच्यातील या विशिष्ट आशयसूत्रांना कमीअधिक वेगळे अर्थ प्राप्त होतात, हे स्पष्टच आहे. परंतु ही संवेदनशीलता वेगळ्या प्रकारे का होईना महानगरीय स्वरूपाची म्हणता येते. कारण काळसेकर, नामदेव ढसाळ या मानववादी कवींवर आधुनिकवादी दृष्टीचा काही प्रमाणात प्रभावही आहे. परंतु आधुनिकवादी दृष्टीचा कोणत्याही प्रकारे प्रभाव नसलेल्या आणि महानगरीय वास्तवाशी निकटचा संबंध असलेल्या नारायण सुर्वे यांसारख्या कवीबाबत काय करावयाचे? त्यांच्या कवितेत महानगरी वास्तव आणि त्यासंबंधीच्या विविध जाणिवा मोठ्या प्रमाणात आविष्कृत झाल्या आहेत, हे स्पष्टच आहे.

महानगरीय संवेदनशीलतेची पाळेमुळे कोणत्या ऐतिहासिक परिस्थितीत व दृष्टीत आहेत, हे आपण पाहिले. ही ऐतिहासिक परिस्थिती व दृष्टी आणि महानगरीय संवेदशीलतेची महत्वाची वैशिष्ट्ये लक्षात घेतली, तर महानगरीय आशय व्यक्त करणाऱ्या सर्वच कवींना या अर्थाचे महानगरीय संवेदनशीलतेचे कवी म्हणता येणार नाही. 'महानगरीय संवेदनशीलता' ही वर्णनात्मक कोटी असल्यामुळे खरे तर याविषयी वाद असण्याचेही कारण नाही. परंतु काही समीक्षक महानरीय संवेदनशीलतेचा आविष्कार करणाऱ्या कवींमध्ये नारायण सुर्वे प्रभृती परिवर्तनवादी कवींचाही समावेश करतात. हे करावयाचे झाल्यास आपल्याला अर्थातच 'महानगरीय संवेदनशीलता' या संकल्पनेचा विस्तार करावा लागेल. वर सांगितलेल्या मराठी कवितेच्या संदर्भातील तीन प्रतिक्रियांमध्ये या वास्तवाला प्रश्न विचारणारी, जाब विचारणारी प्रतिक्रिया अशी भरही घालावी लागेल. असे झाल्यास नारायण सुर्वे यांच्याबरोबरीनेच नामदेव ढसाळ आणि अन्य काही दलित कवींनाही या चौथ्या प्रतिक्रियेची महानगरीय संवेदनशीलता व्यक्त करणारे कवी म्हणता येईल.

१९९० नंतर लिहिल्या जाणाऱ्या कवितेतही महानगरीय संवेदनशीलतेचा आविष्कार झालेला आहे. श्रीधर तिळवे, हेमंत दिवटे, मंगेश नारायण काळे, वर्जेश सोलंकी, संजीव खांडेकर, मन्या जोशी प्रभृतींच्या कवितेत ही संवेदनशीलता आविष्कृत झाली आहे. मूलतः आधुनिकवादाच्या प्रभावाखाली महानगरीय संवेदनशीलता येथे दिसून येते. मात्र या वास्तवाबद्दल हे नवे काही भूमिका घेतात किंवा नाही, हे या कवितांमधून पुरेसे स्पष्ट होत नाही. येथे आकांत नाही. विडंबन नाही किंवा परिस्थितीचा सामंजस्यपूर्वक, परंतु नाईलाजाने केलेला स्वीकारही नाही. मुख्य म्हणजे मर्ढेकर-कोलटकर-चित्रे-सारंग यांच्या

कवितेत महानगरीय अनुभवांतून पलीकडे जाण्याची जी क्षमता दिसते. ती येथे जवळपास दिसत नाही. अधूनमधून काही कवींचा आणि काही कवितांचा अपवाद वगळता ही कविता प्रायः महानगरीय तपशिलांमध्येच गुंतून पडल्याचा प्रत्यय येतो.

पहिल्या टप्प्यावर निर्माण झालेली महानगरीय संवेदनशीलतेची कविता ही मराठी काव्यपरंपरेत वेगळी आणि प्रभावी असल्यामुळे ही कवितेची मध्यवर्ती धारा ठरते. या कवितेत कवितेला नवी परिमाणे प्राप्त करून देणारी प्रयोगशीलता अधिक प्रमाणात असल्यामुळे तिला हे स्थान प्राप्त झाले असावे. या कवितेला केंद्रस्थानी आणण्यासाठी काही हेतुपूर्वक प्रयत्न केले गेले होते, असे चित्र दिसत नाही. सत्यकथा नियतकालिक आणि अनियतकालिकांची चळवळ यांनी स्वंत्रपणे वा संयुक्तपणे या दिशेने काही प्रयत्न केल्याचे पाहावयास मिळत नाही. निदान उघडपणे तरी असे घडल्याचे दिसत नाही. हे चित्र १९५० पासून जवळपास १९८० पर्यंत पाहावयास मिळते. नंतरच्या दोनेक दशकांमध्ये हे चित्र बदलताना दिसत होते. महानगरीय संवेदनशीलतेची कविता ही केंद्रस्थानी आणि इतर कविता परिघाच्या आसपास हे चित्र पुसले जात होते. परंतु गेल्या पाचदहा वर्षांत पुन्हा एकदा महानगरीय कविता केंद्रस्थानी आणण्याचे प्रयत्न हेतुपूर्वक केले जात आहेत. हे नोंदवणे आवश्यक आहे.

(या प्रतिक्रियांची मांडणी अन्यत्र केली आहे. पाहा : स्वातंत्र्योत्तर मराठी कविता : १९४५-६० येथे महानगरीय संवेदनशीलतेच्या संदर्भात त्यांची मांडणी कमीअधिक वेगळ्या स्वरूपात करत आहे.)

●●●

स्वातंत्र्योत्तर मराठी दलित कविता

डॉ. मनोहर जाधव



= १ =

‘स्वातंत्र्योत्तर मराठी दलित कविता’ असा विषय मला देण्यात आला आहे. खरं तर दिलेल्या शब्दमर्यादेत या निबंधाची मांडणी सहजपणे करता येण्यासारखी नाही. प्रबंधलेखनाचा विषय निबंधासाठी निवडणं हे अतिव्याप्त आहे. या विषयाच्या अनुषंगाने काही प्रश्न माझ्यासमोर निर्माण झाले. एक तर हा अर्धशतकाचा काळ आहे. या काळातील दलित कवितेसंबंधी विवेचन करताना दोन धोके संभवतात. एक तर हे विवेचन वर्णणात्मक होऊ शकेल नाहीतर आढाव्याच्या स्वरूपात होऊ शकेल, तसे केल्याने विषय पसरट होण्याची शक्यता आहे. निरीक्षणे नोंदवली तर त्यात अभिप्रेत सूक्ष्म विश्लेषन येईलच असेही नाही. तरी यासंदर्भात फक्त काही मुद्दे समोर ठेवतो.

= २ =

१९७० नंतर दलित कवितेने आपला ठसा उमटवला. आपले वेगळेपण नोंदवले. नामदेव ढसाळ, यशवंत मनोहर, दया पवार, केशव मेश्राम अशी कितीतरी नावे या संदर्भात घेता येतील. ही नावांची यादी खूप वाढवता येईल. मग अमुक एका कवीचे नाव का नाही, असाही प्रश्न समोर येईल. परंतु नावांच्या यादीपेक्षा या काळात जी कविता लिहिली गेली तिची मूलत: प्रकृती कोणती होती आणि त्याची कारणे काय असावी, हा विचार करणे गरजेचे आहे. या कवितेच्या मूळाशी जो जीवनानुभव होता, तो मला महत्त्वाचा वाटतो. अभावग्रस्त, अपमानास्पद जीवन वाट्याला आलेले हे कवी होते, एका अर्थाने ते समाजव्यवस्थेचे बळी होते आणि आत्यंतिक संवेदनशीलतेमुळे ते अस्वस्थ झाले होते. लेखनाची त्यांची परंपरा नव्हती, मात्र ते त्यांच्या पद्धतीने अभिव्यक्त होऊ पाहत होते. या अभिव्यक्तीमध्ये साचलेपणातून बाहेर पडण्याची धडपड होती. आपण कशा प्रकारे अभिव्यक्त व्हावे हा प्रश्न नव्हता तर अभिव्यक्त होणे ही गरज होती. त्यामुळे ज्या जीवनशैलीतून, भाषासंस्कारातून हे कवी आले होते, ती सगळी वैशिष्ट्ये त्यांच्या कवितेतून प्रकट झाली. काही काळ खळबळ उडाली, टीकाटिप्पणी झाली मात्र नंतर ही कविता स्थिर झाली. मान्यता पावली. तिने स्वत:चे वेगळे वळण मराठी साहित्यात नोंदवले. प्रस्थापित कवितेची चौकट मोडली. चौकट मोडण्यासाठी ही कविता लिहिली गेली नाही, हे इथे ध्यानात घ्यावे. अभिव्यक्तीच्या अपरिहार्य गरजेतून ही निर्मिती झाली आहे, त्यामुळे त्यावर केवळ निसटते भाष्य करणे हे पुरेसे ठरणार नाही तर त्या कवितेच्या अवतीभवतीचा सामाजिक - सांस्कृतिक अवकाश पारखून घेतला पाहिजे.

= ३ =

दलित साहित्याची प्रेरणा डॉ. बाबासाहेब आंबेडकरांचा विचार आणि चळवळ आहे. हे आता नव्याने सांगण्याची गरज नाही. डॉ. आंबेडकरांच्या विचाराने आत्मशोध घ्यायला प्रवृत्त झालेल्या कलावंत मंडळींनी आपल्या भावनेचा, विचारांचा आविष्कार केलेला दिसतो. विचारांची स्पष्टता हा बाबासाहेब आंबेडकरांच्या विचारधारेचा एक पैलू आहे. या पैलूंचे प्रकटीकरण मराठी दलित कवितेत फार रसरशीतपणे समोर येते. प्रारंभीच्या काळातील किंवा अगदी अलिकडच्या काळातील कवितासंग्रहांची शीर्षके जरी आपण नजरेखाली घातली तरी आपल्या लक्षात येईल की या सर्व काव्य व्यवहारामागे निश्चित भूमिका आहे आणि या भूमिकेत एक प्रामाणिकपणा आहे. मानवी मूल्यांची पाठराखण, आत्मसन्मानाचा आग्रह दलित कवितेने समोर ठेवला. आपल्या आविष्कारात प्रयोगशीलता असायला हवी असे काही या कवींनी योजलेले नाही. थेट व्यक्त होणे आणि आपल्या पद्धतीने व्यक्त होणे ही या कवींची गरज होती आणि ती तशी कवितेतून व्यक्त झाली आहे.

संघर्ष आणि विद्रोह हा दलित कवितेचा स्थायीभाव आहे. कारण दलित कवी हा केवळ कवी नाही तर तो एक कार्यकर्ताही आहे. जगण्याच्या रोजच्या लढाईत तो ओढला गेला आहे. जाणीवपूर्वक तो परिवर्तनाच्या चळवळीशी जोडला गेला आहे. व्यवस्था बदल त्याला अभिप्रेत आहे. सर्व प्रकारचे शोषण तो निषिद्ध मानतो. शोषणाचे गौरवीकरण करीत नाही. शोषणमुक्त समाजाचे जे स्वप्न बाबासाहेबांनी पाहिले, त्याचा तो शिलेदार आहे. जात, वर्ग, धर्म, लिंग, पंथ इ. गोष्टींमुळे भारतीय जीवनात जी शोषणविकृती निर्माण झाली तिच्याविरूद्ध भूमिका घेणारा हा कवी आहे.

= ४ =

प्रारंभापासून ते आतापर्यंत दलित कवितेची पाहणी केली तर असे दिसते की, प्रारंभी ज्वालाग्राही विद्रोह आणि नकाराची मांडणी करणारी ही कविता व्यवस्था - शोधाबरोबर आत्मविश्लेषणाकडे प्रवृत्त होऊ लागली. विषम समाजव्यवस्थेवर हल्ला हे सूत्र मात्र कायम राहिले. तरीही आपल्यां चळवळीतील आणि जगण्यातील अंतर्विरोध तिने दुर्लक्षित केला नाही. दलित कविता ही आक्रस्ताळी, ऊरबडवी आणि काव्यमूल्य नसलेली कविता आहे अशी टीका या कवितेवर नेहमीच होत आलेली आहे. आक्रस्ताळेपणा आणि आक्रमकपणा, स्थितीशीलता आणि परिवर्तने, आक्रोश आणि विद्रोह यातील फरक आपण लक्षात घेतला तर वरील टीकासूत्राचे विश्लेषण करता येऊ शकेल नव्हे अनेक अभ्यासकांनी ते केले आहे. जगण्यातील प्रश्न आणि त्याा प्रश्नांचा रेटा जसा वाढत गेला तसा दलित कवितेचा स्पष्ट परंतु उग्र चेहरा समोर येत गेला. १९७० ते १९८०, १९८० ते २००० आणि त्यानंतर या काळातील ठळक आणि प्रतिनिधीक व कवींच्या कवितेतून समकालीन प्रश्नांची धग प्रकट झाली. हे समकालीन प्रश्न अनेक पदरी आणि बहुव्यापी होते. त्या त्या कवीच्या प्रकृती वैशिष्ट्यामुळे अभिव्यक्तीत निराळेपण जाणवत असलेतरी मानवी मूल्यांची प्रतिष्ठापना हे विचारसूत्र नजरेआड झाले नाही. अगदी ढसाळ, मनोहर यांच्यापासून भुजंग मेश्राम, प्रज्ञा पवार, अरूण काळे, लोकनाथ यशवंत, महेंद्र भवरे, शशिकांत हिंगोणेकर, अविनाश गायकवाड यांच्यापर्यंत हे सूत्र कायम दिसते. अनुभव स्वीकारण्याचा, चिंतनाचा आणि त्यावर भाष्य करण्याचा प्रत्येक कवीचा निराळा पिंड आहे. जातीव्यवस्थेचे बदलते स्वरूप असो वा जागतिकीकरणाने निर्माण झालेले प्रश्न असो, हे कवी अंग चोरून उभे राहिले नाहीत, राहू शकत नाहीत. समाजवास्तवाला भिडण्याची एक अपरिहार्य जीवनशैली वाट्याला आली हे जरी एक कारण असले तरी त्या सबंध परिप्रेक्ष्यात जाणीवपूर्वक भूमिका घेणे हे या कवींचे वैशिष्ट्य राहिलेले आहे. मानवी जीवनातील कुरूपता आणि आकांत दलित कवितेने अधोरेखित केला, त्यामुळे ही केवळ दलित कविता राहिली नाही तर खऱ्या अर्थाने ते मराठी कवितेने एक वैशिष्ट्यपूर्ण वळण घेतलेले आहे.

= ५ =

दलित कविता एका आवर्तात सापडली आहे, अशी हाकाटी अधूनमधून कानावर येते. संपूर्ण अर्धशतकातील ही कविता पाहिली तर अनेक कवींच्या जीवनानुभवातील साम्य म्हणजे आवर्त नव्हे, हे लक्षात घेणे गरजेचे आहे. आशय - आविष्कारामधील कोंडी आणि नाविण्याचा अभाव यामुळे आवर्त निर्माण झाले असे वाटत असले तरी या कोंडीला फोडण्याचे काम दलित कवींनीच सातत्याने केले आहे, हेही नजरेआड करता येणार नाही. 'गोलपिठा' ते 'मी मारले सूर्याच्या रथाचे सात घोडे' किंवा 'रॉकगार्डन' ते 'ग्लोबलचं गावकुस' अशीही पाहणी आपल्याला करता येण्यासारखी आहे. एखाद्या ठळक कवीच्या काव्यप्रवासाचा आलेख जसा तपासता येऊ शकतो. म्हणजे मनोहर - मेश्रांमापासून लोकनाथ यशवंत पर्यंतची कविता तपासली तरी मधल्या डझन - दीड डझन कवींच्या संदर्भासह निरीक्षणे नोंदवून निष्कर्ष काढता येतात. नामांतर आंदोलन ते खैरलांजीमधील हत्याकांड अशा अस्वस्थ आणि दाहक सामाजिक घटनांना या कवितेने केवळ स्पर्श केला नाहीतर त्याबाबत जागरूकतेची आणि ठोस निषेध नकाराची कणखर भूमिका घेतली आहे. या अर्थाने ही कविता सातत्याने परिवर्तनसन्मुख राहिली आहे आणि हे या कवितेचे बलस्थान आहे.

= ६ =

टोकदार भाषा आणि अर्थपूर्ण प्रतिमासृष्टी ही सर्वच ठळक कवींच्या कवितेत प्रत्ययास येते. अगदी ढसाळांपासून - काळेपर्यंत हे लख्खपणे नजरेस पडते. भाषिक अभिनिवेश आणि नटवेपणा या कवींनी जाणीवपूर्वक अव्हेरला आहे. काय म्हणायचे किंवा सुचवायचे आहे हे या कवींनी नीट समजून घेतले आहे. त्यामुळे वाङ्मयबाह्य लाभाकडे हे कवी धीटपणे पाहू शकतात. पुरस्कार, सन्मान हे अनुषंगिक असून ते कधीही ध्येयसाध्य असू शकत नाही, ही स्वच्छ जाणीवही त्यांच्याकडे आहे. म्हणूनच 'गोलपिठा' ते 'ग्लोबलचं गावकूस' एवढा देखणा दीर्घ पल्ला या कवितेने अधोरेखित केला आहे.

●●●

हिन्दी दलित साहित्य के सरोकार
(विशेष संदर्भ : नई पीढ़ी की दलित कहानियाँ)

डॉ. बजरंग बिहारी



दलित साहित्य की पहचान उसके सरोकारों से बनी, कलागत वैशिष्ट्य का मसला यहाँ प्रमुख नहीं रहा। दलित साहित्य का केंन्द्रीय सोकार है विषमतापूर्ण समाज व्यवस्था और इस सरोकार से उद्‌भूत उसका मकसद है समतामूलक शोषणविहिन जनतांत्रिक समाज व्यवस्था की स्थापना। दलित साहित्य का वैचारिक आधार फुले - अम्बेडकर के समाज - दर्शन से निर्मित है। उसकी सक्रियता जिन इरादों के साथ है उनमें ब्राह्मणवाद का समूल विनाश, मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक ... सभी तरह के शोषण - उत्पीड़न का खात्मा मुख्य है। महात्मा फुले व डॉ. अम्बेडकर से प्रेरणा लेते हुए दलित साहित्य मानता है कि सामाजिक जड़ता का सबसे बड़ा कारण है धर्म की जकड़बंदी। इस जकड़बंदी पर वह हर दिशा से आघात करना चाहता है। धर्म उसके लिए और कुछ नहीं, ब्राह्मणशाही का ही दूसरा नाम है। इस ब्राह्मणशाही में उसे पद दलित किया गया, पग - पग पर यातनाएं दी गईं, मूढ़मति बनाए रखने के लिए अनंत तरीके ईजाद किए गए। ब्राह्मणशाही के प्रति अगाध घृणा और असीम क्रोध इसीलिए दलित साहित्य में दिखाई पड़ता है। आलोचक कई बार इस आधारभूत कारण पर ध्यान न देकर आरोप लगा देते है कि दलित साहित्य ब्राह्मण - मात्र के खिलाफ है, जाति - व्यवस्था के नहीं। वह ब्राह्मणशाही को समाप्त कर अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहता हैं। जाति संरचना को तोड़ने में उसकी कोई रूचि नहीं है। हड़बड़ी के शिकार कुछ दलित लेखक इस आरोप को पुष्ट करने के सबूत भी मुहैय्या करा देते है। ऐसे लेखक बहुधा एक मनुवाद से निजात पाने के प्रयास में दूसरे 'मनुवाद' को समर्थन देने लगते हैं। लेकिन, दलित चेतना की मूल चिंता सभी तरह के मनुवादों से छुटकारा है और सच्ची समता की हर संभव स्थापना है।

इस मुख्य सरोकार के अलावा दलित साहित्य के अन्य सरोकारों को कुछ इस क्रम में रखा जा सकता है :

क) आंतरिक जातिवाद का प्रश्न दिन्दी दलित साहित्य में प्रमुखता से उभरा है। आंतरिक जातिवाद का अर्थ है दलित जातियों के मध्य मौजूद ऊँच-नीच की भावना। आंतरिक जातिवाद पर व्यवस्थित बहस ओम प्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'शवयात्रा' के प्रकाशन से शुरू हुई। 'शवयात्रा' कहानी का कथ्य मात्र इतका है कि वाल्मीकि जाति के प्रति जाटव समुदाय का नजरिया गैरबराबरी का है। इस कहानी पर हिन्दी दलित साहित्य में मिश्रित प्रतिक्रियाएं हुई। कुछ लोगों ने इसे जाति - व्यवस्था को तोड़ने में सहायता करने वाली रचना माना तो कुछ दलित लेखकों का कहना था कि आंतरिक जातिवाद का प्रश्न उठाकर ओम प्रकाश वाल्मीकि दलित एकता में दरार डाल रहे हैं। यह सारी बहस सूरजपाल चौहान के आत्मकथन 'तिरस्कृत' में दर्ज है। सूरजपाल चौहान दूसरे ऐसे दलित लेखक हैं जो आंतरिक जाति समस्या को अपनी रचनाओं में उठाते रहे हैं। आंतरिक जातिवाद का सवाल अभी भी ज्वलंत विवाद का बिन्दु बना हुआ है।

ख) पितृसत्ता का सवाल भी दलित साहित्य के उल्लेखनीय सरोकारों में गिना जाने लगा है। शुरू में इस मुद्दे पर प्राय: चुप्पी रही। शायद यह माना गया हो कि स्त्री शोषण का मुद्दा उठाने से जाति का मुद्दा कमजोर पड़ जाएगा। असल में, स्त्री - उत्पीड़न के मसले पर दलित - लेखन में जागरूकता तब आई जब स्वयं दलित स्त्रियों ने अपने तिहरे शोषण का प्रश्न उठाया। दलित लेखों के एक ऐसे वर्ग को दलित स्त्रियों ने चिह्नित किया जो स्त्री को उसी निगाह से देखते हैं जिस निगाह से एक सवर्ण पुरुषवादी। जिन रचनाकारों ने दलित स्त्री का सवाल उठाया उनमें रजनी तिलक, विमल थोरात, कौशल्या बैसंत्री, सुशीला टाकभौरे, अनिता भारती, प्रोमिला, उपासना गौतम के नाम विशेष रूप से लिए जा सकते हैं।

ग) मार्क्सवाद के संबंध में दलित - लेखन का रवैया कैसा हो यह बहस भी हिन्दी दलित साहित्य में उठी। एक पक्ष ने दलितवाद को मार्क्सवाद की अगली कड़ी के रूप में देखा तो दूसरे ने मार्क्सवाद से दलित - लेखन के किसी भी तरह के सकारात्मक संबंध से इनकार किया। इन दोनों पक्षों से अलग एक तीसरा पक्ष भी है जो मार्क्सवाद का संतुलित विश्लेषण करता है। उसकी निगाह में मार्क्सवाद एक दर्शन के रूप में दलित साहित्य के लिए प्रेरणादायी हो सकता है लेकिन भारतीय मार्क्सवादियों को आत्मालोचन करने की बहुत जरूरत है। यहाँ के मार्क्सवादियों की कथनी करनी में जो भेद पाया जाता है उसे पाटे बिना मार्क्सवाद की स्वीकार्यता संदिग्ध रहेगी। 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र'

नामक पुस्तक में ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं : ''दलित साहित्य न मार्क्सवाद का विरोधी है, न जनवाद का। दलित रचनाकार उस दोहरी मानसिकता का विरोधी है जो बाहर से मार्क्सवादी, साम्यवादी और भीतर से फासिस्टों की पक्षघर है। शोषणविहीन समाज की परिकल्पना को साकार करने के लिए मार्क्सवादी विचारक 'वर्ग' के साथ 'वर्ण' को अपनी लड़ाई का लक्ष्य बनाने में ढुलमुल क्यों हैं? भारतीय समाज में वर्ण एक सच्चाई है जिसने सदियों से इस देश के जनमानस को सिर्फ टुकड़ों में ही नहीं बांटा, उनके मानवीय सरोकारों को भी छिन्न - भिन्न किया है। भारतीय मार्क्सवादी, प्रगतिवादी, जनवादी इस सच्चाई से कब तक मुंह मोड़े रहेंगे?''

घ) पिछले कुछ वर्षों से दलित - लेखन में एक नया सरोकार और जुड़ा है। वह है वैश्वीकरण, उदारीकरण तथा निजीकरण का। दलित साहित्यकार आमतौर पर ऐसा मानते हैं कि वैश्वीकरण की जो प्रक्रिया आँधी की तरह इन दिनों चल रही है वह दलित तबके के हित में नहीं है। पूंजीवाद तथा नवसाम्राज्यवाद अंततः पूरी मनुष्यता के शत्रु हैं। उन से लेखन तथा आंदोलन के जरिए संघर्ष करना आवश्यक है।

II जब भी दलित - लेखन की बात की जाती है तो सबसे ज्यादा चर्चा आत्मकथनों की होती है। कई बार ऐसा लगता है कि दलित रचनाकारों की एकमात्र विधा आत्मकथन ही है। आत्मकथा लेखन को क्योंकि आसान मान लिया गया है इसलिए अक्सर इन चर्चाओं के पीछे ऐसा भाव छुपा होता है मानो दलित लेखक रचनात्मक आत्म संघर्ष से, सृजन की संश्लिष्ट प्रक्रिया में उतरने से बचना चाहते हैं और सीधा - सरल रास्ता अख्तियार करते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि दलित कलमकारों की अभिव्यक्ति सर्वाधिक कविता में और फिर कहानी में हुई है। कथ्य और शिल्प दोनों ही स्तरों पर नयापन होने से दलित कविता और दलित कहानी की विशिष्ट पहचान बनी है और पारंपरिक कविता, कहानी से भिन्न घरातल पर, भिन्न प्रतिमानों से इसका मूल्यांकन अपेक्षित है।

हिन्दी के दलित कहानीकारों की वरिष्ठ पीढ़ी में ओम प्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, सूरजपाल चौहान, जय प्रकाश कर्दम, बुद्धशरण 'हंस', कुसुम मेघवाल... के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं तो नई पीढ़ी में पूरनसिंह, अनिता भारती, रजतरानी 'मीनू', रजनी दिसोदिया, सुमित्रा मेहरोल, टेकचंद, मुसाफिर बैठा, मुकेश मानस, सूरज बड़त्या, राज वाल्मीकि तथा शीलबोधि... के नाम लिए जा सकते हैं। इन दोनों पीढ़ियों के बीच भी एक पीढ़ी सक्रिय है। इस अति संक्षिप्त टिप्पणी में हमारी मुराद युवतर पीढ़ी द्वारा रचित और हाल में प्रकाशित कुछ कहानियों की चर्चा के जरिए हिन्दी दलित - लेखन के वर्तमान परिदृश्य को समझने की कोशिश करना है।

दलित कहानीकारों की नई पीढ़ी से हम क्या उम्मीद करते हैं? इस प्रश्न से प्रस्तुत चर्चा की शुरूआत करना शायद बेहतर हो। लेकिन, स्वयं इस प्रश्न में कई पेंच हैं। प्रश्न में आया 'हम' कौन है? सामान्य या जागरूक (गैर दलित) हिन्दी पाठक? कथा - आलोचक? दलित बुद्धिजीवी? जाति विरोधी कार्यकर्ता? दलित पाठक और आंदोलनकर्मी? इनमें से हर एक की उम्मीद, कसौटी और आकलन अलग - अलग होंगे। फिर, ऐसा प्रश्न करके क्या नए कहानीकारों पर बेजा दबाव नहीं बनाया जा रहा? जो कहानियां लिखी जा रही हैं उनका विश्लेषण हाना चाहिए अथवा अपनी रूचि के अनुरूप कहानी की मांग? और यह भी कि, हर कहानीकार की अपनी दृष्टि है, सरोकार है। उन सबको एक ही कसौटी पर कसना क्या रचना - कर्म की विशिष्टता के साथ नाइंसाफी नहीं?...

अपनी अपेक्षा को कहानी की तकनीक के संदर्भ में पेक्ष किया जाए तो संभवतः विवाद से बचा जा सकता है। दलित कहानी अपनी अभिव्यक्ति, कथ्य और शैली में जहां तक आ चुकी है नया दलित कहानीकार उसे अभिनव आयाम दे, विषयवस्त चिरपरिचित होते हुए भी वह अपनी रचनात्मकता में उन अवलोकन बिंदुओं की तलाश करे जहां से सच के सर्वथा नए पहलू दिखाई दें। पूर्ववर्ती कहानीकारों द्वारा जो फार्मूला ईजाद किया गया है, कथा लेखन का जो आसान ढांचा खड़ा किया गया है उसकी सीमाओं को पहचानना बहुत जरूरी है। सीमाओं को पहचानने के बाद ही उसे तोड़ सकने की, परे जाने की गुंजाइश बनती है। यह समझना आवश्यक है कि कोई भी कथ्य अपने - आप प्रभावशाली नहीं हो जाता। कथ्य को प्रस्तुत करने का तरीका इसमें निर्णायक भूमिका अदा करता है। इसके 'तरीके' को ही सुविधा के लिए शैली कहा जाता है। शैली के प्रति उदासीनता या अरूचि का भाव कथा - लेखक के लिए ठिक नहीं। सामाजिक आंदोलनों से जुड़े लोग अक्सर ऐसी उदासीनता प्रदर्शित करते मिल जाते हैं। दलित आंदोलन लेखक और कार्यकर्ता के बीच किसी विभाजक रेखा को न मानने का आग्रही हैं। असल में, महाराष्ट्र को ध्यान में रखा जाए तो इस आग्रह का व्यावहारिक आधार समझा जा सकता है। दलित पैंथर के लगभग सभी कार्यकर्ता रचनाकार थे। इनमें से कुछ - एक बाद में उच्च कोटि के कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए। 'गोलपिठा' (नामदेव ढसाल का चर्चित काव्यसंग्रह) एक आंदोलनकर्मी की ही गुस्सैल अभिव्यक्ति है। कुछ ऐसा ही कर्नाटक के दलित - संघर्ष - समिति के संदर्भ में दिखाई पड़ता है जहाँ लेखक और कार्यकर्ता की भूमिकाएं एक ही व्यक्ति निभाता है। लेखक और कार्यकर्ता के फर्क को अवश्यंभावी न मानने के बावजूद

इस प्रसंग में इतना अवश्य जोड़ा जा सकता है कि शुरू में भले ही एक व्यक्ति दोनों भूमिकाएं निभाता हो परंतु बाद में प्राय: कार्यकर्ता अपनी राह पकड़ता है और रचनाकार अपनी।

'अपनी' अभिव्यक्ति (के रूपबंध) की खोज की बेचैनी नए कहानीकारों में प्राय: दिखाई नहीं देती। कथ्य की दुर्निवार नवीनता में अगाध विश्वास इसका कारण हो सकता है। लेकिन, रजनी दिसोदिया की कहानी 'एक गैर साहित्यिक डायरी' ('अपेक्षा', अप्रैल - जून २००१) पढ़ते हुए लगा कि दलित कहानीकारों की एक दूसरी कोटि भी बनाई जा सकती है। रजनी दिसोदिया शिल्प - सजग कहानीकार के रूप में उभरती देखी जा सकती हैं। उनकी शिल्प -सजगता अन्य शिल्प - सजग (पुरानी व नई पीढ़ी के दलित, गैर दलित) कहानीकारों से भिन्न है। उनके यहां शिल्प कथ्य के सहयोगी या कथ्यगत वैशिष्ट्य के अनिवार्य पूरक के रूप में है। शिल्प साध्य नहीं, माध्यम है। लेकिन, इससे उसका महत्त्व कम नहीं हो जाता। माध्यम के प्रति बेपरवाही हो तो कथा - वस्तु का अनोखापन अति परिचित ढर्रे पर चलता हुआ अनदेखा ही रह जा सकता है। रजनी इस आशंका का ख्याल रखते हुए अभिव्यक्ति की बनावट का प्रश्न उठाती हैं। गौरतलब है कि यह प्रश्न उनके किसी वक्तव्य या कहानी पर लिखे लेख में नहीं उठाया गया है। 'एक गैर साहित्यिक डायरी' की बुनावट में ही यह सवाल गुंथा हुआ है। अनुभव से बना हुआ कथ्य और परंपरा या शास्त्र से अर्जित कथ्य एक - सा नहीं होगा। इस 'एक - से' न होने को समझा कैसे जाए? लेखिका के कोण से देखें तो, उसकी अभिव्यक्ति किस तरह हो? 'एक गैर साहित्यिक डायरी' इन जिज्ञासाओं को आधार बनाकर चलती है। वह रचना - प्रक्रिया को विवृत करना, उसे समझना चाहती है। इसके लिए मुक्तिबोध ने इस विनिबंध में रचना - प्रक्रिया की व्याख्या की है। रजनी इस व्याख्या को अपनी अपेक्षाओं, कसौटियों पर रखकर देखती हैं। मुक्तिबोध के लिए रचना - प्रक्रिया का जो मतलब है, रचना - निर्माण के जो चरण हैं वे एक दलित रचनाकार पर भी वैसे ही लागू होंगे? रजनी इसका उत्तर तलाशती हैं। मुक्तिबोध के अनुसार 'कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण'। रजनी इस व्याख्या से सहमत है। असहमति इसके बाद शुरू होती है। कला के दूसरे क्षण को स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध कहते हैं - ''दूसरा क्षण इस अनुभव का अपने कसकते दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और ऐसी फैन्टेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैंटेसी अपनी आंखो के सामने ही खड़ी है। ...'तीसरा और अंतिम क्षण है। फैंटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की पूर्णावस्था तक की गतिमानता। शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का जो प्रवाह बहता रहता है वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है। प्रवाह में वह फैंटेसी...' (मुक्तिबोध के ये सभी कथन रजनी की पूर्वोद्धृत कहानी से हैं) रचना की जो प्रक्रिया नितांत व्यक्तिगत अनुभवों से शुरू हुई वह (रजनी की निगाह में) बाद में 'टेक्नीकल मामला' बन जाती है। एक दलित रचनाकार अपने दु:खपूर्ण अनुभव के मूल से पृथक हो सकती है? अपने कसकते अनुभव को फैंटेसी बनाया/माना जा सकता है? दलित और गैर दलित रचनाकार का यह बुनियादी फर्क है जिसे रजनी दिसोदिया प्रस्तुत कहानी में रेखांकित करना चाहती है। लेकिन असल कहानी रचना - प्रक्रिया पर बहस नहीं है। कहानी के तीन अन्य घरातल हैं। मुख्य धरातल है विश्वविद्यालय के शिक्षकों / शिक्षिकाओं के आपसी रिश्ते। जाति - बोध यहॉं बहुत सूक्ष्म स्तर पर सक्रिय है। प्रो. द्विवेदी कहानी के प्रमुख पात्र हैं। विचारों में 'प्रगतिशील', भावनाओं में कबीर के साथ और व्यवहार में पुरखुलूस। वे बात - बात में अपने ब्राह्मण होने का हवाला देते रहते हैं। इससे किसी अन्य को क्या आपत्ति हो सकती है? लेकिन आपत्ति है। ऐसे प्रसंगों में कहानी लेखिका अपनी संवेदनात्मक स्थिति को स्पष्ट करती हुई कहती है - ''जिस व्यवस्था ने उन्हें ब्राह्मण बनाया उसी ने मुझे चमार बनाया। उनके ऐसा कहने या मानने से पूरी व्यवस्था फुंफकार कर जाग उठती है।''

तीसरे धरातल पर कहानी लेखिका के परिवार (ससुराल व मायका दोनों) का शब्द - चित्र प्रस्तुत करती है। जाति यहां भी प्रच्छन्न रूप में सक्रिय है। इन सबके साथ कहानी का एक चौथा धरातल भी है। यहाँ जाति - वर्चस्व अथवा जाति आधारित उत्पीड़नों का एक कोलाज है। इस कोलाज के नाम - रूप विहीन पात्र कहीं 'पंडितजी' के समारोह में पूड़ी इंतजार में बैठे हैं और कहीं मां द्वारा सेंकी जा रही रोटियों पर मन ही मन अपना नाम लिख रहे हैं। एक दलित का सच इतना संश्लिष्ट इतना बहुकोणीय, इतना अर्थबहुल हो सकता है 'एक गैरसाहित्यिक डायरी' इसे बखूबी दर्शाती है। इस कहानी की बहुआयामी खासियत को ठीक से समझ न सकने के कारण 'अपेक्षा' के संपादक तेज सिंह उस पर यह आरोप चस्पां करते हैं - ''रजनी दिसोदिया की 'एक गैर - साहित्यिक डायरी' मुक्तिबोध की तरह अपनी संरचना और विषयवस्तु की प्रस्तुति में उतनी ही जटिल और बौद्धिक है। रचना उसी समय जटिल और बौद्धिक होती है जब उसका लेखक विचारधारात्मक स्तर पर अंतर्विरोधों के बीच गंभीर अंतर्द्वन्द्व से गुजर रहा होता है और स्पष्टतया कोई निर्णय लेने में अपने आपको असमर्थ पाता है।' ('अपेक्षा', संपादकीय, अप्रैल - जून २००७, अम्बेडकरवादी कहानी विशेषांक) पता नहीं किन तर्को से रजनी दिसोदिया को तेज सिंह एक दूसरे 'युवा कथाकार' से जोड़ देते हैं। अब, उनकी नजर में एक गैर साहित्यिक डायरी से ज्यादा 'सार्थक' कहानी शीलबोधि की 'बस! हमें अब लड़ना है' लगती है।

एक रेखीय स्थूल - सपाट और 'पारंपरिक' कहानी की समझ रखनेवाले, उस समझपर पुनर्विचार की जरूरत न महसूस करनेवाले समीक्षक से ऐसी ही टिप्पणी की दरकरार की जा सकती है।

शीलबोधि बिलकुल नए कहानीकार है। रजनी दिसोदिया की ही तरह। लेकिन, दोनों की कहानी - 'विधा' बिल्कुल अलग - अलग तरह की है। शीलबोधि की कहानी 'बस! हमें अब लड़ना है', 'अपेक्षा' के अम्बेडकरवादी कहानी विशेषांक में ही प्रकाशित हुई थी। तमाम अन्य दलित कहानियों की ही तरह शीलबोधि की इस कहानी की उल्लेखनीय बात दलित जन - उभार को शब्दबद्ध करना है, दलितों की संकल्प - शक्ति में आस्था प्रकट करना है। इसी पीढ़ी की एक रचनाकार सुमित्रा मेहरोल की कहानी 'प्रतिकार' ('अन्यथा', जून २००८) भी उसी परिपाटी पर चलती है एक दलित परिवार के साथ पड़ोसियों का व्यवहार कितना भेदभावपूर्ण होता है यह कहानी इस तथ्य का रेखांकन करती है। लेकिन, कहानी भेदभाव के चित्रण पर समाप्त नहीं हो जाती। वह दलित प्रतिरोध को दर्शाती है।

प्रतिरोध - चेतना से होकर मुक्ति चेतना तक पहुंचनेवाली राज वाल्मीकि की कहानी 'मैला - मुक्ति' ('हाशिए की आवाज', मई २००८) दलितों में भी दलित कहे जानेवाले भंगी - समुदाय की परिवर्तन गाथा है। यह रचना कहानी से अधिक एक रपट लगती है। शायद इसलिए कि मैं इसके पात्रों को व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ और उनके सार्थक - सफल प्रयासों को भी। चंद्रवती कल तक मैला ढोने का काम करती थी। राजकुमार और सीमा की प्रेरणा से उसने यह काम छोड़ दिया। उसे एक वैकल्पिक रोजगार मिला। पुनर्वास की व्यवस्था किए बिना मैलाकर्मियों की मुक्ति टिकाऊ नहीं हो सकती। मैला - मुक्ति का अभियान चलानेवाले बैजवाड़ा विल्सन, सीमा तथा राजकुमार इस सच से अवगत हैं। वे अपने संकल्प को मंजिल तक पहुंचाने की कोशिश में लगे हुए हैं। 'रूखी - सूखी खाएंगे पर मैला नहीं उठाएंगे' जैसे नारों से रचित इस कहानी के साहित्यिक मूल्य में शंका की जा सकती है किंतु मानव - गरिमा की उसकी सच्ची चिंता से इनकार नहीं किया जा सकता।

राज वाल्मीकि की तरह अनिता भारती भी मूलत: एक सामाजिक कार्यकर्ता है। लेखन उनके एक्टीविज्म का ही हिस्सा है। ब्राह्मणवादी - वर्चस्ववादी समाज - व्यवस्था के खिलाफ लोगों को खड़ा करना और सामाजिक जागृति को शब्द देना - उनकी क्रियाशीलता के दो मुख्य मोर्चे हैं। 'एक थी कोटेवाली' ('अपेक्षा', अप्रैल २००८) कहानी स्कूल - शिक्षिकाओं के बीच पसरी 'जाति - भावना' का बड़ा निष्पक्ष निरूपण करती है। स्कूल में अध्यापिकाओं के दो गुट हैं - गैर दलित (सवर्ण) और दलित। एक नई शिक्षिका के आने पर दोनों गुट यह जानने में जुट जाते हैं कि वह किस सामाजिक पृष्ठभूमि की है... ऐसे 'सजग' स्कूलों में पढ़नेवाले विद्यार्थी 'जाति - बोध' से संपन्न न हों तो आश्चर्य ही होगा।

रजतरानी 'मीनू' संभावनाशील लेखिका हैं। आलोचना के साथ वे कहानी - विधा में भी गतिशील हैं। इधर उनके आत्मकथन के कुछ हिस्से प्रकाशित हुए हैं जो उनकी कहानियों से कहीं ज्यादा शक्तिशाली लगते हैं। वे दलित समाज में स्त्री की स्थिति को लेकर चिंतित प्रतीत होती है। यदि इस चिंता को पितृसत्ता विरोधी चिंतन का आधार मिला और समतावादी मूल्यों के संबंध में स्पष्टता व दृढ़ता आई तो उनसे बेहतर रचनाओं की पूरी उम्मीद की जा सकती है। उनकी कहानी 'वे दिन' ('अपेक्षा', अप्रैल २००७) औपचारिक शिक्षा के लिए संघर्षरत एक दलित स्त्री अंजू की दास्तान है। संघर्ष की गंभीरता दर्शाने के लिए कहानी - लेखिका ने अतिशयोक्ति का सहारा लिया है। हालांकि, इससे अन्तर्वस्तु पर प्रतिकुल असर पड़ा है।

पूरन सिंह लघुकथा लेखन में चर्चित हैं। उन्होंने जाति - दंश की बड़ी मारक लघुकथाएं लिखी हैं। 'जब ममता शून्य हुई' ('अपेक्षा' अप्रैल २००७) कहानी में उन्होंने नि:संतान पंडित पंडिताइन की टीस का चित्रण किया है। नि:संतान होने के 'अभिशाप' से मुक्त होने के लिए पंडिताइन एक परिचित नर्स से बच्ची का जुगाड़ करती हैं। लेकिन, जब उन्हें पता चलता है कि नवजात बच्ची मेहतर परिवार की है तब उनकी ममता रीत जाती है। कहानी अपने गठन व कथ्य में प्रभावशाली नहीं बन सकी है। 'अपेक्षा' के इसी अंक में प्रकाशित मुसाफिर बैठा की कहानी 'दरोगवा' उत्तरी बिहार के सीतामढ़ी जिले के एक अति पिछड़े गांव से शुरू होकर पालिटेक्नीक कॉलेज तक फैले सवर्ण वर्चस्ववाद का जायजा लेती है और उस वर्चस्व का मुकाबला करने की दलित आकांक्षा का भी रूपायन करती है। इस कहानी के 'सवर्णो' में भूमिहार, राजपूत, ब्राह्मण तथा लाला (भूराबाल) से कहीं ज्यादा दबंग यादव / ग्वाले हैं। मुसहरों, डोमों को ग्वालों का अत्याचार झेलना पड़ता है। कहानी यथार्थ के कमज्ञात हिस्सों को उजागर करती है लेकिन जिस बिंदु पर आकर समाप्त होती है वह सुनियोजित नहीं लगता।

नए कहानीकारों में टेकचंद भरोसा पैदा करते हैं। टेकचंद ने अभी कम ही कहानियां लिखी हैं लेकिन अपनी शिल्प - सजगता, रूढ़िमुक्त कथ्य चयन, विडंबना बोध तथा भाषिक दक्षता (मुहावरों का सटीक इस्तेमाल) आदि विशेषताओं के चलते समीक्षकों, पाठकों का ध्यान अपनी ओर खींचा है। 'खस्सी' ('हंस' सितंबर २००६) में उन्होंने हिन्दी कथा साहित्य में संभवत: अब तक अप्राप्य डिटेल्स दिए हैं। ये डिटेल्स सुअर को बधिया ('खस्सी') करने की प्रक्रिया के है। डिटेल्स कहानी को विश्वसनीय बनाते हैं लेकिन मात्र

विश्वसनीयता उत्कृष्ट कहानी की गारंटी नहीं दे सकती। यही 'खस्सी' के साथ हुआ है। शक्तिशाली डिटेल्स के बावजूद कहानी कमजोर लगती है। लेकिन, 'हंस' के दिसंबर २००७ अंक में छपी उनकी 'अम्बेडकर जयंती' कहानी अपने विडंबना बोध के कारण यादगार बन गई है। कहानी जिस कंट्रास्ट में रची गई है उसके एक छोर पर रामरतन जैसे ईमानदार समर्पित दलित कार्यकर्ता हैं तो दूसरे छोर पर मास्टर बलबीर, एसीपी जयचंद, प्रोफेसर सुमन जैसे अवसरवादी संपन्न 'दलित' हैं। समारोह में इन्हें सुनने आई दलित युवकें की टोली जो टिप्पणियां करती है उससे हम इन मौकापरस्तों के चरित्र से अवगत होते ही हैं साथ ही नई पीढ़ी के गुस्से से भी परिचित होते हैं। यह गुस्सा अगर सही दिशा में मोड़ा जा सके तो सार्थक बदलाव की उम्मीद की जा सकती हैं।

टेकचंद की 'उतरन' ('अनभै सांचा,' अप्रैल - जून २००७) कहानी भी बहुत मूल्यवान लगती है। एक दलित स्त्री की दुर्दशा को उकेरनेवाली इस कहानी की केन्द्रीय पात्र कमली एक तरफ तो अपनी मालकिन की हृदयहीनता से त्रस्त है और दूसरी तरफ अपने शराबी पति रामसुख की हिंसा से। पति की हिंसा , क्रूरता झेलती कमली का 'घर' छोड़ने का निर्णय नई बनती दलित स्त्री की पूर्व सूचना है। पितृसत्ता पर दलित - लेखन में कायम चुप्पी टूटनी चाहिए। नई पीढ़ी से हम आशा कर सकते हैं।

•••

Glimpses of Tamil Dalit Literature with Special Emphasis on Bama's Novels

Prof. Raji Ramesh Iyer



The Dalit movement came to prominence in Marathi literature with the founding of the Dalit Panthers in 1972 [Second Wave of Marathi Dalit Movement]. In Tamilnadu the term 'Dalit' had been used intermittently along with taazhthappattor [those who have been put down] or odukkappattor [the oppressed] during the eighties, but it is only since the nineties that it has been used widely, not only by Tamil Dalit writers and ideologues in order to identify themselves, but also by mainstream critics. It is really inspiring to observe that critical writing has gone side by side with new writings by self styled Dalit writers such as Abhimani, Idayavenden, Bama, etc. Even mainstream critics have begun to appreciate and acknowledge this writing as radically new and different. The movement expresses its solidarity with- ***' All Scheduled Castes and Scheduled Tribes, Nav-Buddhists, labourers, landless and destitute peasants, women and all those who have been exploited politically and economically and in the name of religion.'*** In his introduction to Dalit writing in the India Today Annual of 1995, eminent Dalit ideologue Ras Gauthaman brings to forefront the very universal aspect of Dalit writing. He feels that Dalit literature has enabled a non-Dalit to deconstruct a traditional mindset which made them pitiful victims, it has also put forward a new and subversive ethic which awakens not only the conscience of non-Dalits but also fills Dalits themselves with confidence and pride. Overall, it shares its aims with other marginalized and subaltern groups worldwide. It is a Tamil and Indian reflection of the global literature of the oppressed whose politics must be an active one that fights, for human rights, social justice and equality' [Gauthaman also opines that there is no role model for Dalit writing. He feels that language is designed in Dalit writing to disrupt and to ***'expose and discredit the existing upper caste language, its grammar, refinements, and its falsifying order as symbols of dominance'.***

According to critics such as a Yarx, Ravikumar, Gauthaman and Unjairajan Dalit literature is a proud reflection of 'Dalit culture' just as Gauthaman makes a forceful plea for retaining and reinforcing a special Dalit Tamil usage, the playwright and critic Gunasekaran makes a strong plea for retaining all Dalit art forms. He distinguishes between ***sevviyal*** [classical arts] and ***naattupuraiyal*** [flolklore]. Folklore needs to by properly divided into Dalit and non-Dalit art froms. They basically depended on local gods and heroes, and are closely linked to the performer's mode of employment. Dalit writers have to reclaim and develop these art forms, retaining sharply and without compromising to mainstream tastes, particular Dalit features of spectacle, mask, gesture and language. This concept of Dalit culture sets up an alternate classicism for Dalit on oral traditions.

Finally as Raj Gauthaman points out, there are no role models for Dalit writing. Sequence, chronology perceptions of time, form and language must all be reconstructed in Dalit writing.

Representation of Dalit in the writing of mainstream Tamil writers, of seventies and eighties was also limited to a mere class identity. The Dalit was basically presented as a worker and his oppression in an unequal social strata was portrayed within the realms of capitalist oppression of the working class. Few novelists discussed the discrimination, isolation and social injustice meted out towards the Dalits. But these also lacked the vitality of the radical Dalit writings of 1990's Surely the writing of Poomani in eighties and Daniel [Srilankan Tamil writer] brought to the forefront the issues pertaining to Dalits to some extent. Poomani's novels faregrounded Dalit lifestyle in rural society polarized by caste and social hierarchy. But, Dalits in this novel lacked the radical thought and solidarity envisioned by Ambedkar. Daniel's novels basically dealt with the persecution and oppression of Tamil Dalits in

Srilanka. He regarded class- strife as the main source of social discrimination. Though, Dalits in his novels appears to offer an organized protest against there persecutors, they do it only under the leadership of apper caste, Marxist comrades who are determined to fight for their upliftment Dalit literature appeared to carve a Nische for its only in the nineties, when Dalit themselves started presenting their experiences through different modes in Tamil literature. During this period many writers like Sivakami, Vrjai Rajan, Bama, Abimani, Gunasekaran, Edayyavedan and many others came to prominence and through their writings Dalit voice could be heard and their presence felt by the world.

The first Dalit novel in Tamil was written by a women Dalit Wrila, Sivakami in 1989. Her novel, ***Pazhiyana Kazhidalum [The grip of change]*** deals with the problems related to Dalit leadership and pinpoints the drawback of the model followed by Dalits wherein the Dalit leaders simply follow the corrupt manipulative politics of the upper caste empowered politicians. She envisages highly educated, empowered Dalit youth, who can stand united and work with sincerity and commitment. She feels that only such organized youth could curb intra- Dalit strife and novel also brings to the forefront Dalits. The novel also brings to the forefront the violant treatment of Dalit women by Dalit men at home. Hrough her novel Sivakami also sows the seeds of Dalit patriairchy which is an important issue in Dalit literature. Within the patriarchal set up Dalit women are at a double whamy They are constantly vulnerable to sexual harassment and abuse at home by Dalit men, husband, fathers, brothers-in-law, fathers-in-law, in addition to sulywation outside their homes at the hands of upper caste men and even the police. Sivakami's second novel, ***Aanandayee*** [1992] dwells on the violent treatment of woman's body and shows how the family itself as an institution within the partriarchal systeme is oppressive and completely unjst to women Dalit women's sexuality is totally suppressed and violently exploited. Throuf her novels Sivakami brings to the forefront the dual oppression meted out to Dalit women, in the name of gender and caste, by Dalit men as well as upper caste new.

Tamil Dalit writers have employed a variety of genres for their self expression. The short story has been effectively used by them to foreground the oppression of the Dalits and their struggle against their oppressors. The self reflexive interrogative nature of the Dalit discourses give them more contemporary relevance. Apart from Sivakami who published three collections f short stories, the other who came to prominence are Bama with two collection :-***Kisumbukaaran*** [1996] Abhimani has two collections:-***Nokkadu*** [1993] ***Tettam*** [2001] ***Imaiyam-MannBaram*** [2004] and so on.

Many Dalit writers foreground the gender caste intersection in the lives of Dalits in their works. Representation of Dalit women is an important aspect of Tamil literature with respect to the voice and space granted to Dalit women characters. Dalit women are portrayed as lively courageous, hardworking individuals with tremendous inner strength to face any kind of crises and work tirelessly at home and outside. Their talent is also showcased through their dance and songs. An important aspect of the plays is that Dalit women characters out numbers Dalit males in the plays. Gunasekaran's popular play ***Bali Aadugal*** [1999] foregrounds the interlocking of gender and caste concerns of priests and upper caste to offer a human sacrifice to appease the village deity. The proposed sacrifice is halted as the man who was about to be sacrificed manages to escape. The elders soon decide to offer a Dalit man, Vduman to the deity. He in turn pleads with the village elders to free him and in turn offers his wife for sacrifice. His proposal is accepted and the Dalit woman without even a name for herself, who is just known as Vduman's wife is sacrificed. The play throws light on the working of patriarchy in case of a woman Dalit men treat their wives more violently, unjustly and cruelly than they themselves are treated by the upper caste. Through the portrayal of Vduman's wife, lacking even a name for herself Gunasekaran pinpoints how Dalit women lack an individual identity and are constantly considered as daughters, wives and mothers.

Sexual exploitation of Dalit women workers at their workplace and sexual violence at the hands of husbands at home from Dalit short stories. Abimani's short stories shows caste hegemony over women at large. In one of the stories, Abimani depicts a Dalit male's

appropriation of an upper caste women's body on the basis of his gender though he is restrained by his lower caste status in matters other than sexual. Dalit writers thus offer thought provoking subtexts to the gender caste collusion in Dalit lives. Abimani highlights how upper caste women are oppressed just like Dalit women in the patriarchal society while Dalit women are oppressed by caste hegemony as well as patriarchy. He observes that women in general should join hands to fight the patriarchal and other oppressive social structures.

Matters pertaining to reservation benefits to Dalits and animosity of the upper caste towards the Dalits on account of reservation are discussed in Anbadavan's poems. He advocates that Dalits need to organize themselves for empowerment and also avail of their constitutional right. He even observes that Dalits cannot absolve themselves from using weapons to counter upper caste biases and traditional forms of discrimination heaped on them continuously over the years ***' If one takes up weapons, respect follows suit'*** , he feels in one of the poems [Kavichi 2003] . Dalit poets use confessional, satirical, realistic modes of writing and employ conversational colloquial vocabulary.

An issue that is of great concern to most of the Dalit writers is the Dalit women's sexuality. They express their anxiety at the suppression of women's sexuality throughout their life by their own family and also the caste. Dalit women are not allowed to attend school after attaining puberty, are subjected to sexual assaults by much older husbands, are sexually harassed or raped by fathers-in-law, brothers-in-law if they are widowed subjected to regulars beatings by alcoholic husbands and are burdened with heavy labour at home and also in the fields apart from nurturing their numerous children and the aged. This is the typical path taken by a Dalit women in her life. Writers express their concern at the intersection of caste hegemony and patriarchal society which completely control Dalit women's sexual life.

Another writer who problematizes the issue of gendering through his novels is Imaiyam. His novels portray the sexual harassment of Dalit women by their male superiors at their work place. Further, Dalit women like washerwomen are raped by the upper caste patrons and are silenced so that they don't lose their livelihood. [eg. Mary in Koveru Kazhudaigal,1994]. Many women are also forced into prostitution to ward off poverty and sustain a livelihood. In his novel, ***Arumugam***, he shows the struggle of commercial sex workers to make the ends meet, Their maternal instinets remain unfulfilled and often as in the case of Chinnponu, meet a cruel, violent death at the hands of their clients over a petty argument about their professional fees. He portrays women as highly energetic, lively and very loving towards their husbands. But, his bourgeois attitude towards the sexual assault on the Dalit women is questionable. He feels that the women themselves are responsible for their sad plight. No onus is put on the casteist, patriarchal system. Women in his novels appear to crave for male protection, even that of a five year old son. Imaiyam moves a step forward by implicating a particular Dalit caste paraiyars for the sexual offence on Dalit women. This has led to a series of debates among the critics. An issue that a raised is whether regressive ideological position adopted by a Dalit writer makes him suitable to work for the upliftment of Dalits.

A writer who stands out amongst these Dalit writers is definitely Bama in 1992 she published the first Dalit autobiography, ***Karukku*** (1992) in Tamil. The Dalit women were compelled to voice their misery doubled up due to caste and gender discrimination. The result was the rise of Dalit Feminism. As its exponent Bama has found in ***Karukku*** the right space to articulate the sufferings and travails of Dalit women. It also enjoys the unique recognition of being one of the first radical feminist discourses by a Tamil Dalit woman.

Karukku means palmyra leaf and Bama observes many similarities between her trouble filled life and the saw edged karukku. As she observes in the preface of the book :

The ***driving forces that shaped*** this book are ***many, cutting me like Karukku*** and ***making me bleed,*** unjust social ***structures that plunged me*** into ***ignorance and left me trapped*** and ***suffocating, my own desperate urge*** to break***, throw away and destroy*** these bonds ***and when the chains were*** shattered into fragment***, the blood that was split*** then all ***these taken together*** 5

Karukku , an autobiographical novel, shows how difficult it is to be a Dalit and a woman. A Dalit woman is a Dalit amongst the Dalit. Bama's existence is more difficult, since she is a Dalit Christian. ***Karukku*** bring to the forefront, the three forces that affect her life, that is caste, gender and religion.

Karukku flouts the established convention of an autobiography. It is a painful journey that is open ended leaving many questions unanswered. The novel is a reflection of a variety of themes like religion, recreation, education etc. Though these factors, Bama reveals how the caste oppression is meted out to the Dalit Christians not only by the upper caste society but also within the Catholic church itself. Bama, driven by an inner urge to alleviate the sufferings of the oppressed, becomes a man. ***Karukku*** is about Bama's inner quest for self discovery and the ultimate courage, which makes her to move away from the life of a man and live as a Dalit woman. ***Though Karukku*** Bama pinpoints how the church advocates subservience, obedience and docility to the followers, while repressing the radical the radical liberative teachings of Jesus. She urges the Dalits to acquire education and in depth knowledge of Bible and know Jesus as the real defender of the oppressed.

Karukku exemplifies inner strength and vitality of Dalit women. It is really noteworthy that centuries of oppression have vitality and the inner strength of the Dalits. Dalit women, have enormous strength and vigour to bounce back against all odds. If ***Karukku*** burst with the realistic depiction of the subservient existence of the Dalits, ***Sangati*** her second novel celebrates with pride the resilience and the dauntless spirit of the Dalit women. While ***Karukku*** depicts the sufferings of a Dalit women, ***Sangati*** moves away from the individual to community. It is a statement of pride underling the inherent liveliness and indomitable spirit of Dalit women against oppression. As Bama herself writes in the Preface to the book.

In Sangati many strong Dalit women who had the courage to break the shackles of authority to propel themselves upwards, to roar (their defiance) change their difficulty, problems filled lives of those women who dared to make fun of the class in power that oppressed them. And through this, they found the courage to revolt.

Sangati means news and the book is full of interconnected events- the everyday happenings in the Dalit community. Similar to ***Karukku*** that flouted the conventions of autobiography, ***Sangati*** goes against the notions of the traditional novel. It has no plot in the normal sense, but is a series of anecdotes.

The book could be considered as an autobiography of a community for it describes Dalit women from different generations. Vellaiyamma Kizhavi, the narrator's patti (grandmother) had got married at the age of fourteen and is deserted by her husband Govindan, at a very young age. After several years of futile wait, her Patti darlingly takes away her ***mangalsutra*** signifying the mental courage of the Dalit women to parent her children single handed.

It seems *patti* wanted and waited for Govindan to return, and at last, when there was a terrible famine, she took off her *tail* and sold it. After that she never wore a *tail* ever again. She told herself she had become a corpse without a husband and struggled single-handedly to care for her two children (Bama 2005:5).

The book dwells at length on the gender basis faced by Dalit women right from the childhood. Elizabeth Fox Genovese (1990) while discussing gender basis in Afro- American community writes.

For, in stable societies gender, in the sense of society's prescriptions for how to grow up as a man or as a women, is indicated in tandem with and indissolubly bound to the child's growing sense of "who I am" To be an "I" at all, to be a self, is to belong to a gender.(p.187)

Similarly the inferiority of the Dalit girl is emphasized right from her childhood. Girl babies are always considered inferior and are taken less care of. "If a baby boy cries, he is instantly picked up and given milk. It is not so with girl. A boy is breast-fed longer. With girls, they wean them quickly, making them forget the breast." (Bama 2005:7) We also learn that Dalit girls are made to do all the household chores like "cleaning vessels, drawing water, sweeping the house gathering firewood, washing clothes, and so on" (Bama2005:7)

In ***Karukku Bama*** has dealt at length with the caste consciousness prevailing in the Catholic Church. In Sangati we find that the Catholic priests were also gender-biased and treated the converted Dalit women as inferior.

The church rules, such as the one against divorce, militate against women and keep them under control: parish priests are not sympathetic towards women's individual choice of life partner. They are given the meanest jobs in the church with the promise of a 'reward' in heaven. (Holmstrom2005:xviii)

Bama observes that there is a striking difference between the life of Dalit man and a woman. As Linda Brent (1973) writes in *The Incidents in the Life of a Slave Girl* "Slavery is terrible for men: but it is far more terrible for women. Superadded to the burden common to all, they have wrongs, and sufferings, and mortifications peculiarly their own". (p.79)

Sangati does not stop with just an analysis of the suffering of the Dalit women. The book takes us to the inner premises of Dalit culture asserting its richness and tradition substantiating Francois Gros' (2004), following observation.

Dalit communities do indeed have a very rich and deep culture heritage, a folk tradition of tales, songs and performing arts, an amazing variety of practices and usages in their daily life, and craftsmanship, etc. and a wonderful world of gods, goddesses and devils, all elements contributing to the creation of an original, imaginary world which is in no way less important nor less fascinating than classical mythology or orthodox manner and customs. (p-14)

The language of the Dalit women is rich and resourceful giving way to proverbs, folklore and folksongs. The women have an innate talent to give appropriate nicknames to others. Seyarani is called ***maikanni*** because she has ensnaring eyes. Sanmuga Kizhzvi is called maikuzh kizhzvi because she takes only ragi kuzh. Gnaanambal is called dammatta maadu because she goes round like a young bullock dragged and dazed without knowing what is going on. The Dalit women also posses an inborn talent to spontaneously sing songs befitting any occasion.

I really don't know how they could make up song like that, in an instant, quick as anything… They used to sing, lullabies, roratti songs to the babies in their cradles… if any one died, the women sang opparis and wept loudly. Thinking about, from birth to death, there are special songs and dances. And it's the women who perform them. Rarraatu to oppari it is the women who sing them (Bama2005:77-78)

Thus through Sangati, Bama has pioneered a Dalit Penniyam, a Dalit feminist perspective in Tami. It is criticism of the patriarchal, caste-ridden society. They are also reflective of the changing attitudes of Dalit women. In ***Karukku*** and the first half of ***Sangati*** we find the narrator merely lamenting the suppression and sufferings faced by Dalit women. But the later part of ***Sangati*** moves away from the state of depression and frustration. Instead it renders a positive identity to Dalit women highlighting their inner strength and vigour. It celebrates the grit and determination of the Dalit women to stamp their existence in a male dominated, caste structured society. "The ideals Bama admires and applauds in Dalit women are not the traditional Tamil 'feminine' ideals of acham (fear), naanam (shyness), madam (simplicity, innocence), payituppu (modesty) but rather courage, fearlessness, independence and self-esteem" rightly observes Holmstrom. Like her first novel ***Karukku***, in ***Sangati,*** Bama thus, celebrares her admiration of Dalit women with pride and dignity. Her third novel, Vanman (2002) She argues for the need of betted solidarity among Dalit groups, in order to avoid intra – Dalit strife. She fears that lack of unity amongst the Dalits will indirectly benefit the upper caste.

An area required to be seriously debated is Dalit criticism critical studies in Tamil Dalit literature is basically concerned with Dalit identity, their self expression and re-readings of classes. There is also the question regarding who is a Dalit writer? Eminent critic Roy Crauthanam feels that apart from one who is born as a Dalit who has that birthright, to write about Dalits. Anyone who works for the empowerment of Dalits, definitely can write about them. All writers foreground that Dalits and women need to work together against oppression.

Writers like Bama and SivaRami strongly feel that feminism itself should reinvent itself to bring together the perspectives of women and Dalit women .According to Dalit feminist critic, Sharmila Rege:

"The Dalit Feminist standpoint is about historically locating how all our identities are not equally powerful, and about reviewing how in different historical practices similarities between women have been ignored in an effort to underline Caste-Class identities, or at other times differences ignored for the feminist cause."

Dalit studies have gained great momentum with the advent of Dalit publishing houses involved in translations of Dalit literature into English and also other Indian languages, apart from publishing Dalit writings. This has also helped to forge a great cultural and political unity amongst Dalits.Further, a well organized critical corpus needs to be developed in Tamil Dalit literature, so that the works could be read and appreciated worldwide.

•••

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दलित साहित्य

डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे



दलित साहित्य का विस्फोट स्वतंत्रता के करीब २५ वर्षों बाद सन १९७० के आस-पास मराठी में हुआ। मराठी प्रदेश में इस साहित्य के जन्म के मूल में निम्नलिखित प्रमुख कारण रहे।

१) महाराष्ट्र यह डॉ. बाबासाहेब आबेंडकर जी की जन्मभूमि तथा कर्मभूमि रही। समता, बंधुता और स्वतंत्रता के लिए वे सन १९२५-३० से संघर्षरत थे। अनेक प्रयत्न के कारण वर्ण तथा जाति व्यवस्था द्वारा नकारा गया समाज धीरे-धीरे क्यों न हो? सामाजिक समता हेतू संगठित हो रहा था।

२) महाराष्ट्र को परिवर्तनवादी विचारों की एक लंबी पृष्ठभूमि रही है इस दृष्टि से महात्मा ज्योतिबा फुले तथा राजर्षि शाहू महाराज का कार्य उल्लेखनीय हो इन दोनों के कारण बहुजन अपने अधिकारों के प्रति जागृत हो रहा था।

३) स्वतंत्रता के बाद जिस संविधान को लागू किया गया, तो उसका लेखन डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर जी ने किया था। संवैधानिक व्यवस्था के कारण दलित वर्ग को शिक्षा की सुविधाएँ प्राप्त होने लगी। १९५० में दलितों की जो पीढ़ी उच्चशिक्षा के क्षेत्र मे चली गयी थी वह १९७० तक आत-आते-उच्चशिक्षा पूर्ण कर रही थी। यह पीढ़ी साहित्य, विज्ञान तथा ज्ञान के क्षेत्रों को सम्भालते रही। उसें यह तीव्रता से महसूस हो रहा था कि उनकी व्यथाओं का चित्रण साहित्य में नही के बराबर है। साहित्य के क्षेत्र में भी वे अस्पृश्य और अक्षूते है। उनकी अनुभूति भी अक्षूती है परिणामत: पारंपारिक मराठी साहित्य उसमें अधूरा लगा।

४) शिक्षा के कारण वे अपनी अस्मिता के प्रति सजग हो गये। अपनी व्यथाकथा को वे व्यक्त करने की इच्छा व्यक्त करने लगे। उनमें जो संवदेनशील थे वे अपनी तीव्रतम् अनुभूति के बोझ से मुक्त होने हेतु लिखने लगे।

उपर्युक्त कारणों से दलित साहित्य का विस्फोट दलित साहित्य में हुआ। एक ऐसे तबके द्वारा जो बृहत्तर समाज द्वारा पूर्णत: उपेक्षित था। स्वाभाविक रुप से इस साहित्य में विद्रोह और नकार का स्तर प्रबल था और आज भी है। आरंभिक दौर के इस साहित्य की निम्नलिखित विशेषताएँ थी:-

१) इनमें व्यक्त अनुभूति का विश्व एकदम नया भौतिक और यातनाओं से भरा हुआ था। आज तक के साहित्य में मुठ्ठीभर लोगों के जीवन का ही चित्रण किया जाता था। उस साहित्य में उपेक्षित व्यथितों, श्रमिकों शोषकों, दलितों के जीवन का चित्रण नहीं के बराबर था। दलित साहित्य में अनुभूति के एक नये विश्व को प्रस्तुत किया ।

२) इसमें व्यक्त वेदना का स्वरुप व्यक्तिगत नहीं सामाजिक भी अर्थात दलित साहित्य सामाजिक दस्तावेज के (Socil document) रुप में प्रस्तुत हुआ।

३) वर्ण और जाति का दुख व्यक्ति के साथ-साथ संपूर्ण जाति को भूगतना पड़ता है। इस कारण चित्रण भले ही व्यक्ति का किया जाता हो तो भी व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व यहाँ नहीं के बराबर होता है। व्यक्ति एक विशिष्ट समूह का प्रतिनिधित्व करता है।

४) दलित साहित्य का पहला विस्फोट काव्य विधा में हुआ। यह स्वाभाविक भी था। श्री नामदेव महाराज की कविता वेदना, विद्रोह और नकार को लेकर व्यक्त होती है। कविता के बाद आत्मकथा इस विधा में दलित अपने व्यथा को व्यक्त करते है। श्री प्र.ई. सोनकांबले तथा श्री दया पवार जी कि आत्मकथा (आठवणींचे पक्षी - यादों के पंछी और बलुत अछुत) इसके प्रमाण है।

५) आरंभिक दलित साहित्य ने मानक मराठी को नकारा है। भाषा को वे अपने तरीके से गढ़ते थे अथवा ये कहें कि वे अपनी रोजमर्रा की भाषा का उपयोग करते थे। मुक्तिबोध के शब्दो में कहे तो वे उन सभी पारंपारिक गड्ढों को मान्यताओं को तोडते थे जो अभिव्यक्ति के लिए अड़चने पैदा करती थी। अभिव्यक्ति के सारे खतरों को वे उठाते थे।

६) आरंभिक दौर के दलित साहित्य में नकार का स्वर अपने प्रबल रुप है। वे विकल्प नहीं देते। विद्रोह की पर पहली अवस्था होती है इस साहित्य में खुद की तलाश है। परंपरा की तलाश है। अपने स्व के प्रति जागरुकता है और मानवीय अधिकार जिस समाज में, धर्म ने, व्यवस्था ने नकारा है उसके प्रति जबरजस्त आक्रोश है।

<u>सन १९९० के बाद का दलित साहित्य :-</u>

सन १९७० से १९९० के बीच मराठी दलित साहित्य में कविता और आत्मकथा इन्हीं दो विधाओं मे साहित्य रचा गया। इस बीच श्री बाबुराव बागुल जैसे अपवादात्मक प्रतिभा संपन्न कहानीकार भी है। जिन्होंने कहानी विधा के माध्यम से दलित-जीवन के विविध आयामों को उद्‌घाटित करने का प्रयत्न किया। १९९० के बाद के दलित साहित्य की निम्नलिखित विशेषताएँ देखी जा सकती है -

१) कविताएँ और आत्मकथाएँ इस दौर में भी लिखी जा रही थी। कविता की तुलना में आत्मकथा में वैविध्यता अधिक है विभिन्न तबकों में शिक्षा का प्रचार-प्रसार हो जाने के कारण इन तबको के युवकों ने अपनी जाति की व्यथओं को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। यह दुःख विशिष्ट जाति में जन्म लेने के कारण ही प्राप्त हुआ है जाति और वर्ण व्यवस्था ही इसके मूल में है इसे वे अप्रत्यक्ष रुप से स्पष्ट करते है। डॉ. शरणकुमार लिंबाले की 'अक्कर माशी' ने अवैध दलित संतान के दुःख को पूर तीखे पन के साथ प्रस्तुत किया। तो श्री लक्ष्मण गायकवाड जी की आत्मकथा 'उठाईगीर' ने धुमक्कड जातियों के दर्द को प्रस्तुत किया। इस काल में स्त्रियाँ भी अपनी कथा को लेकर प्रस्तुत होती है। बेबी कांबले जी की 'माझ्या जीवनाची चित्तर कथा' से लेकर उर्मिला पवार की 'आयदान' तक महत्वपूर्ण आत्मकथाओं ने प्रमाणित किया कि वर्ण तथा जाति व्यवस्था के कारण व्यक्ति तथा समाज का कितना नुकसान हुआ है। अनुभूति का यह विराट विश्व इन सबको आत्मपरिक्षण के लिए मजबूर करता है।

२) इस दौर में अन्य विधाओं में भी दलित निवेदना व्यक्त होने लगी । श्री बाबुराव बागुल जी ने कहानी विधा के माध्यम से इनकी शुरुवात की थी। श्री योगीराज वाघमारे, श्री अमिताभ, श्री शरणकुमार लिंबाल, वामन ओहाल, केशव मेश्राम, भीमसेन देठे, अविनाश डोळस आदि कहानीकारों ने अपनी सशक्त कहानियों द्वारा यह साबित किया कि दलित संवेदना केवल कविता, आत्मकथा तक सीमित है। यहॉ प्रतिभा संपन्न कहानीकार भी है।

३) ठीक इसी तरह दलित रंगमंच की स्थापना की गई और दलित रंगमंच पर वर्णित संवेदना को, यातना को नाट्यरुप में प्रस्तुत किया जाने लगा। सर्वली दत्ता भगत, रामनाथ चव्हाण, ज.वि.पवार उल्लेखनीय नाटककार है। नाटके के अलावा एकांकी विधा में भी दलित यातना व्यक्त होने लगी। न केवल नाटककार अपितु नाट्यसमीक्षक तथा नाट्य दिग्दर्शक भी इस आंदोलन ने तैयार किए। डॉ. कृष्णा किरवले जैसे नाट्यसमीक्षक भरत के नाट्यशास्त्र को नकारते हुए यह प्रमाणित करते है कि भरत के काल से ही एक समांतर रंगमंच इस देश में था। विशेष रुप से बौद्ध कालखंड में यह रंगमंच अत्यंत समृद्ध हुआ।

४) इस काल में दलित संवेदना को व्यापक अर्थ दिया गया जो जन्म से दलित है उनकी ही व्यथा दलित संवेदना नहीं है, अपितु जो श्रमिक है, शोषित हैं वे सब दलित हैं । प्रस्थापित समाज द्वारा नकारे गए जितने भी वर्ग है, तबके हैं, जातियाँ है वे सब दलित है। श्री बाबुराव बागुल ने दलित शब्द को अभिवक्त किया। श्री दत्ता भगत ने इसके भी आगे जा कर यह कहा कि 'जाति से निर्मित दुःख ही दलित दुःख है।' अगर किसी ब्राह्मण को ब्राह्मणो की यह उपजाति जो मरणोपरांत कर्मकांड करती है ब्राह्मणों में उपेक्षित होते है। उनकी व्यथा को 'किरवंत' नाटक में एक दलित नाटककार ने ही प्रस्तुत किया।

दलित शब्द को इतने व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाए अथवा नहीं इस पर मतभेद है। हिन्दी में दलित शब्द को बहुत संकुचित अर्थ में ग्रहण किया जाता है। मराठी में जो आदिवासी है, जनजाति के है, जो पिछडे है अन्य पिछडे (ओबीसी) हैं उन सबको दलित के अंतर्गत स्वीकारा जाता है। १९८० के पूर्व तथा बाद में भी दलित शब्द बहुत सीमित अर्थ में प्रयुक्त किया जाता था। परंतु अब उसमें काफी व्यापकता कर दी गई है।

५) सन १९९० के बाद के दलित साहित्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि अब दलित संवेदना केवल विद्रोह और नकार की बात नहीं करती इसके अलावा अब वह दलित जीवन की ओर पूर्णरुप से तटस्थ होकर उसकी विसंगतियों को, उसकी पाखंडी वृत्ती को उजागर कर रही है। संवैधानिक सुरक्षितता तथा आरक्षण के कायदे लेकर दलितों में जो वर्ग प्रस्थापित हुआ है, उसके चारित्र का, उसकी पाखंडी वृत्ती का पर्दाफाश कर रही है। डॉ. शरणकुमार लिंबाले ने इस वर्ग को दलित ब्राह्मण कहा है। उनका एक कहानी संग्रह इसी शीर्षक को लेकर आता है। मुक्तिबोध के शब्दों मे समकालीन दलित साहित्य पूरी तटस्थता से खुद को तराश कर देख रहा है, खुद को छील कर देख रहा है। विशेषत: १९८० के बाद जन्मी दलित पीढ़ी पिछली पीढ़ी के पाखंडपन को अपनी कविताओं, कहानिओं मे उजागर कर रही है। एक ओर, दुःख और यातना के नये-नये आयात उद्‌घाटित हो रहे है। (कविता, कहानी, आत्मकथा में) तो दुसरी ओर खुद की ओर है। तटस्थता से देखने की वृत्ती भी बढ़ रही है।

६) १९९० के बाद दलित साहित्य ने बौद्ध साहित्य को, बुद्ध के जीवन को प्रेरणा के रुप में ग्रहण किया है। बौद्ध प्रभाव देखा जा सकता है। इन नये प्रतीकों, बिंबो उपमाओं का एक नया संसार इन साहित्यकारों ने खड़ा किया है। इस कारण मराठी भाषा अधिक संपन्न होते जा रही है।

७) दलित साहित्य पर एक आरोप यह लगाया जाता रहा कि उसमें प्रयोग धर्मिता नहीं है। उसके शिल्प में नवीनता नहीं है। भाषा और अनुभूति को अगर छोड दे तो शेष स्थानों पर इसमें कोई प्रयोग धर्मिता नहीं है। इस आरोप को गलत घोषित किया है। प्रतिभा संपन्न कहानीकार डॉ. कुमार अनिल ने अपने कहानी संग्रह 'पेशुवाइतिल' पांढरा उंदिर (इसका हिन्दी अनुवाद शिघ्र ही आ रहा है।) इसमें से अधिकांश कहानियाँ दलित उच्च मध्यमवर्गीय जीवन से संबंधित है। प्रतिकारात्मक शीर्षकों द्वारा इस उच्च मध्यमवर्गीय दलित जीवन का पर्दाफाश पूरी तटस्थता और कलात्मकता के साथ डॉ. अनीस ने किया है। सुक्ष्म व्यंग्य का स्तर प्रारंभ कहानी में है। दलित कहानी को एक नया तेवर देने की कोशिश कुमार ने की है। बाजरवाद, वैश्वीकरण टूटते जीवन मुल्य, सुप्त अथवा अदृश्य रुप में व्याप्त वर्णनवादी मानसिकता आदि का अत्यंत प्रतिकारात्मक चित्रण इन कहानियों की विशेषता है। बौद्ध दर्शन, बौद्ध मिथक कथाएँ , प्रतिक, रुपक आदि का प्रयोग इन कहानियों की विशेषताएँ है।

ठीक इसी प्रकार की प्रयोगधर्मीता श्री दत्ता भगत के 'अश्मक' नाटक में दिखलाई देती है। विदिशा इस बौद्ध कालीन नगरी का सम्राट आम आदमी को लुभावने आकर्षण देकर उनका शोषण किस प्रकार करता था, इसका प्रभावपूर्ण चित्रण इस नाटक की विशेषता है। समकालीन भारतीय राजनीति की पृष्ठभूमि में इस नाटक को पढ़ा जाए तो इसमें छिपी वेदना तक हम सहजता से पहुँच सकते है।

८) २० वी शती के अंतिम में दो प्रतिभासंपन्न कवियों ने मराठी दलित-कविता को जो व्यापकत्व दिया, जो सूक्ष्मता प्रदान की उससे यह बात स्पष्ट हो गई कि प्रतिभा जाति या वर्ण से संबंधित नहीं होती। श्री अरुण काले तथा श्री भुजंग मेश्राम की कविताएँ एक नये तेवर के निकट आती हैं। इन दोनों की कविताओं में आम आदमी और मानवीय मूल्यों की जो अवनति हो रही है, उसके प्रति चिंता व्यक्त की गई है। सन १९९३ में अरुण काले का पहला काव्यसंग्रह रॉकगार्डन छपा। सन १९९७ में 'सायटनची शहर' तथा २००६ में 'नंतर आलेले लोक' ने श्री अरुण काले की विशिष्ट पहचान बना दी। इनकी कविताओं में केवल दलित व्यथा की ही अभिव्यक्ति नहीं हुई है। अपितु भूमंडलीकरण, बदलती हुई अर्थ व्यवस्था, भ्रष्टाचार तथा अन्य मनुष्य विरोधी ताकतों के कारण आम आदमी की तो स्थिती हो रही है, उसकी बड़ी तीखी व्यंगात्मक और सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई है। बकौल रवींद्र किंबहुने संवेदनशीलता के साथ जीना दिन ब दिन कितना असंभव सा होता जा रहा है , इस व्यवस्था से चिंतीत असहाय्य पराजित नागरिक ही अरुण काले की कविता का नायक है। श्री भुजंग मेश्राम की कविताओं में आदिवासी जनजातियों की असाह्यता का चित्रण हुआ है। अर्थात उनकी कविता विशिष्ट जनसमूह से संबंधित नहीं है। श्री अरुण काले की कविता की तरह वह भी इस देश के श्रमिक, व्यथित, दलित, शोषित व्यक्ति से ही संबंधीत है। खुली अर्थव्यवस्था तथा भूमंडलीकरण के कारण इस देश का सामान्य मनुष्य किस प्रकार असाह्य होता जा रहा है , इसका चित्रण इनकी कविताओं मे हुआ है।

श्री नामदेव रसाल को आरंभ वर्णित-कविता अरुण काले तथा भुजंग मेश्राम तक पहुँचते पहुँचते गंभीर और व्यापक रुप धारण करने लगती है। इन दोनों की कविताएँ केंद्रीय साहित्य प्रवाह में भी अपना विशिष्ट महत्व सिद्ध करती है।

हिन्दी दलित साहित्य-

१) मराठी की तुलना में हिन्दी दलित साहित्य का प्रारंभ करीब डेढ़ दशकबाद १९८४-८५ में होता है। अर्थात दलित संवेदना की अभिव्यक्ति वहाँ इसमें काफी पूर्व से रही थी। यहाँ इस बात को स्पष्ट करना जरुरी है कि दलित साहित्य की अवधारणा में यह बात निश्चित है कि डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर द्वारा प्रस्तुत विचारधारा और दर्शन जिस साहित्य की नींव में है, जो इस विचारधारा से प्रेरित है। दुसरे शब्दों में विशुद्ध मानवीयता, समता, बंधुता और न्याय, प्रखर वैज्ञानिकता, भौतिकता आदि मुल्यों को जो साहित्य स्वीकारता है। वही साहित्य दलित साहित्य कहलाने का अधिकारी है। यह स्थिती से हिन्दी में १९८० के बाद दलित साहित्य की शुरुवात होती है। ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है। मराठी में जरुर यहाँ भी दलित साहित्य का जन्म 'आत्मकथा' इस विधा में होता है। श्री ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जुठन' हिन्दी की पहली दलित आत्मकथा है और हिन्दी दलित साहित्य की पहली रचना है। श्री ओमप्रकाशजी कवि भी है। उनके काव्यसंग्रह में दलित संवेदना की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। (सदियों का संताप, बस बहुत हो चुका) श्री ओमप्रकाशजी के बाद इस क्षेत्र में जानीमानी प्रतिभाएँ अपनी रचनाओं को लेकर प्रस्तुत होते हैं। सर्वश्री मोहनदास नैमिशराय (अपने अपने पिंजरे) डॉ. जयप्रकाश कदम (छप्पर) मधुकर सिंह (१२ से अधिक उपन्यास) सूरजपाल चौहान (तिरस्कृत) श्योराजसिंह बैचैन (क्रोंच हूँ मैं- कथा संग्रह) सुशिला टाकभौर (स्वाति-बुंद- सारे-मोती-कथासंग्रह) आदि.

२) यह सही है कि हिंदी में दलित-साहित्य से पुश्त अनेक काव्यसंग्रह प्रकाशित हुए। इन कविताओं में आक्रोश और नकार का स्वर प्रखर है। परंतु ये कविताएँ अभिधात्मक अधिक हैं। यहाँ परंपरा की देन है इस मनुज विरोधी व्यवस्था के प्रति और इसका समर्थन करनेवाले धर्म के प्रति चीढ़ है । तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो यह कविता न सुक्ष्म है, न ध्वन्यात्मक। श्री नामदेव ढसाल दलित कविता को उसके आरंभिक काल जिस उँचाई पर ले जाते है, उसका यहाँ

अभाव है। अर्थात हिन्दी के साहित्यप्रवाह के प्रारंभ में जिस प्रकार की कविता लिखी जाती है, वैसी कविता है।

३) मराठी दलित साहित्य के जन्म के मूल में परिवर्तनवादी आदोलन कारण रहा है। विशेषत: दलित पँथर का आंदोलन दलित साहित्य की पृष्ठभूमि में है। मराठी में दलित लेखक स्वयं सामाजिक परिवर्तवादी आंदोलनो में शामिल भी रहे। दलित पँथर के सभी संस्थापक सदस्य प्रतिभासंपन्न कवि भी है। सर्वश्री नामदेव ढसाल, अर्जुन डांगले, वामन निंबाळकर आदि। परिवर्तनवादी आंदोलनो मे शिरकत करने के कारण तथा इस हेतु आम आदमी के बीच निरंतर सक्रिय होने के कारण समाज की इतनी समझ बड़ी गहरी है। कहना होगा कि इस प्रकार के आंदोलनो में सक्रिय सरोकार वहाँ प्राप्त अनुभवों ने की उनकी संवेदनशीलता अधिक जीवंत और प्रखर-बन गई है । अन्य भारतीय भाषाओं में दलित साहित्य का जो प्रचार शुरु हुआ है उसके मूल में इस प्रकार के आंदोलन रहे हैं क्या सभी खोज जरुरी है। अर्थात किसी भी साहित्य प्रकार के जन्म के लिए आंदोलनों का होना अथवा उसमें रचनाकार को कार्यकर्ता होना यह कोई जरुरी नियम नही है। अनुभूति को वैचारिकता और अभिव्यक्ति के छटपटाहट इनका महत्त्व सर्वोपरि होता है। प्रतिभा इन सब बातों से परे होती है। इस प्रकार के प्रतिभा संपन्न रचनाकार हिंदी में अब दिखलाई देने लगे है।

४) हिन्दी में साहित्य की अन्य विधाओं में भी दलित-लेखन आ रहा है। आत्मकथा तथा कविता के अलावा उपन्यास और कहानियाँ भी लिखी जा रही हैं। श्री ओमप्रकाश वाल्मीकि के कहानी संग्रह सलाम घुसपैठिए, प्रकाशित हुए हैं।

अलबत्ता दलित संवेदना के पुष्ठ नाटक नहीं लिखे जा रहे हैं। स्वदेश दीपक का 'कोर्ट मार्शल' इस दृष्टि से उल्लेखनीय नाटक है। परंतु हिन्दी के दलित नाटककार तथा समीक्षक ऐसी किसी भी रचना को दलित-साहित्य की रचना के रुप में स्वीकारना नहीं चाहते जिसका लेखक जन्म से दलित न हो। अर्थात सवर्णो द्वारा दलित संवदेना से युक्त साजिश को वे दलित-साहित्य के अंतर्गत नहीं लेते। कविता के क्षेत्र में इस प्रकार का आग्रह ठीक नहीं लगता। हिंदी में शिष्यमूर्ति की लंबी कविताएँ दलित-संवेदना से पुष्ठ है। हिन्दी में दलित-स्त्री भी लेखन के क्षेत्र में आ चुकी है। कौशल्या बैसंभी की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' तथा सुशीला टाकभौर के काव्य-संग्रह 'स्वातिबुंद और खारे मोती ' इसका प्रमाण है।

५) दलित चेतना के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देनेवाले सोलह दलित कहानीकारों का एक संकलन 'समकालीन दलित काहनियाँ' शीर्षक से डॉ. सुमन नियोगी के संपादन में प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह की सभी कहानियों की एक विशेषता यह है कि ये कहानियाँ गैरभारतीय समाज की विसंगातियों को अंतर विरोधों को उजागर करती है तो दूसरी ओर दलितों में आत्मसम्मान से जीने की लालसा भी पैदा करती हैं। इस दृष्टि से मोहनदास नैमिशराय की महाशुद्र कहानी महत्वपूर्ण है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'यह अंत नही' में पंचायत की न्याय व्यवस्था पर प्रश्नचिन्ह लगाया गया है। इस कहानी में ग्रामीण परिसर में जीनेवाली और सतत अन्याय का शिकार होनेवाली दलित स्त्री में प्रतिशोध की चेतना कैसे पैदा हो रही है, इसका बड़ा यथार्थ चित्रण किया गया है।

६) हिंदी में दलित साहित्य को प्रकाशित करनेवाली पत्रिकाएँ इधर काफी संख्या में निकल रही हैं। मराठी में 'अस्मितादर्श' ने दलित साहित्य के विकास में जो भूमिका निभाई है वही भूमिका ये पत्रिकाएँ निभा रही है। अपेक्षा (डॉ. तेजसिंह) संचेतना (डॉ.महीपसिंह) हंस (श्री राजेंद्र यादव) युद्धरत आम आदमी (रमणिका गुप्ता) आंबेडकर इन इंडिया (दयानाथ निगम) बयान (मोहनदास नैमिशराय) आजीवन विजन (ईशकुमार गंगानिया) तीसरा पक्ष (देवेश चौधरी) दलित टुडे (महिपाल सिंह) दलित वार्षिका (जयप्रकाश कर्दम) आंबेडकर मिशन पत्रिका (बुद्धशरण हंस) इन पत्रिकाओं मे सृजनात्मक दलित साहित्य तथा दलित जीवन संबंधी वैचारिक लेख प्रकाशित हो रहे है। इन पत्रिकाओं के कारण दलित साहित्य के विकास में गति आयी है।

अन्य भारतीय भाषाओं में दलित साहित्य:-

मलयालम, तमिल, कन्नड, तथा तेलगु, साहित्य की इन चार भाषाओं मे दलित साहित्य का विस्फोट सन् १९८० के बाद होता है। परंतु इन चारों राज्यों में वर्ण तथा जाति व्यवस्था के विरोध में संघर्ष की एक तरफ लंबी परंपरा है। न केवल इन चार भाषाओं मे अपितु सभी भारतीय भाषाओं में जो लोक साहित्य है साहित्य की जो मौखिक परंपरा है उसमे दलित- संवेदना की, दलित दु:खो की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। मलयालम के अध्येता तथा हिंदी-मलयालम रंगमंच पर सक्रिय डॉ. अच्चुतन ने मलपालम में जो लोक परंपरा है, उसमें अभिव्यकत दलित-संवेदना का विस्तृत अध्ययन किया है। मलयालय में सभी विधाओं में दलित संवेदना की अभिव्यक्ति शुरु हुई है। दक्षिणी भाषाओं के अधिकांश साहित्य समीक्षक इस बात को स्वीकारते है कि दलित-संवेदना की अभिव्यक्ती की बडी प्राचीन परंपरा वहॉ भी भाषाओं में रही है। यह परंपरा भक्ति साहित्य में आलवा संत तामिल म.बसवेश्वर के वचनों में है। इस अभिव्यक्ति के मूल में अध्यात्म है। सामाजिक न्याय तथा व्यवस्था-परिवर्तन की माँग नही है। अथवा वर्ण व्यवस्था के पूर्णत: नकारने की बात भी नही है। (अपवाद म. वसवेश्वर के वचन) डॉ. बाबासाहब आंबेडकर विचारों को केंद्र मे रखकर अर्थात समता, बंधुता तथा स्वतंत्रता के मूल्यों का आग्रह

करते हुए जिस साहित्य का जन्म हुआ वह मराठी की अनुवादित रचनाओं से प्रेरणा लेकर ही। डॉ शरणकुमार लिंबाले की तीन रचनाओं के अनुवाद मलयालम में हुए। 'अक्कर माशी' का कन्नड और तेलगु में अनुवाद हुआ। आज इन चारों भाषाओं मे दलित साहित्य की अभिव्यक्ति हो रही है। उन की कृतियों के हिंदी अनुवाद धीरे-धीरे क्या न हो उपलब्ध भी हो रहे हैं ।

उत्तर की भाषाओं में प्रमुख रुप से हिंदी आती है। उसके दलित साहित्य प्रवाह का जायजा हमनें लिया है। उड़िया, असमी, बंगाली और पंजाबी में दलित साहित्य की शुरुवात हो चुकी है। उड़िया में इसकी सर्व परंपरा वहाँ के साहित्य में प्राप्त है। इधर विभिन्न विधाओ में दलित संवेदना व्याप्त हो रही है। पंजाबी बंगाली और असमी के संबंध में मुझे व्यक्तिगत रुप से कोई जानकारी नहीं है।

भारतीय दलित साहित्य के इस साहित्य विवेचन के बाद दो मुद्दो की ओर ध्यान आकृष्ठ करना मै जरुरी समझता हूँ। १) दलित साहित्य की समीक्षा स्त्री विमर्श के संदर्भ में लेने की कोशिश दलित विदूषियाँ कर रही है। मराठी की प्रसिद्ध दलित कवियत्री और समीक्षक श्रीमती ज्योती लांजेवार अपनी एक प्रदीर्घ टिप्पणी में कहती है कि मराठी दलित साहित्य में स्त्री का चित्रण नहीं के बराबर है। इस साहित्य में जो भी स्त्री आती है। माँ, बहन अथवा पत्नी के रुप में उसका अत्यधिक उदात्रीकरण किया गया है। स्त्री की ओर दलित पुरुष उसी दृष्टि से देखता है, जैसे सवर्ण-पुरुष देखता है। इस स्त्री की भीतरी छटपटाहट को ये लेखक पकड़ नही पाए हैं। ये पुरुष स्त्री की ओर एक मनुष्य के रुप में देखते नहीं। उनका स्त्री विषयक दृष्टिकोन और उसकी रचनाओं में इसकी प्रस्तुति एक आचार्य, पक्षपात पूर्ण तथा गौरवीकरण से भरा रहा है। संभवत: दलित स्त्री को ही अब अपनी व्यथा व्यक्त करनी होगी वे कहती है कि इधर मराठी में जिन दलित स्त्रियों ने अपनी आत्मकथाएँ लिखी हैं। कविता, कहानी लिखे है । उसमें पुरुष के प्रति इस प्रकार का पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोन स्त्रियाँ नहीं रखती। वे पूरी तटस्थता के साथ पुरुष को प्रस्तुत करती है । डॉ. ज्योती लांजेवार का यह आरोप कम अधिक मात्रा में भारत की विभिन्न भाषाओं में शुरु हुए दलित साहित्य में पुरुष स्त्री के संबंध में लागू होता है। अत: दलित पुरुष की मानसिकता भी इसी व्यवस्था की देन है। पुरुष चाहे सवर्ण हो दलित स्त्री की ओर वह भोग की दृष्टि से देखता है अथवा देवी के रुप में। उनकी इस मानसीकता में परिवर्तन की उम्मीद है।

२) वास्तव में भारतीय दलित साहित्य की अभी शुरुवात है। १०० करोड लोकसंख्या के इस देश में दलितों की संख्या २५ करोड के आसपास है। इसमें अगर अन्य पिछड़ो की संख्या (OBC) मिला दें तो यह संख्या ५० करोड चली जाती है। उच्चतम न्यायालयने ही कहा है कि आरक्षण ५०% से अधिक न हो आज सरकार भी वह स्वीकार कर चुकी है कि दलित, आदिवासी, घुमक्कड जन जातियाँ तथा अन्य पिछडो की संख्या ५० करोड के आसपास है। इसमें श्रमिकों, शोषितों की संख्या मिला दें तो १०० करोड में से ७५ करोड 'दलित कोटि' के आ जाते हैं और यह ७५ करोडों की कथाव्यथा हमारे कथासाहित्य साहित्य से नदारद है। स्वतंत्रता के ६० वर्षो बाद इन ७५ करोड में अनेक जातियाँ उपजातियाँ है। श्रेष्ठता-कनष्ठिता की कामना से सभी पीडित है। ७५ करोड में से मुश्किल से ५-६ करोड की कथा व्यथा दलित साहित्य द्वारा व्यक्त हो रही हैं। शेष ६०-६५ करोड रोजी-रोटी के लिए जो संघर्ष कर रहे हैं। उसका अता-पता किसी को नहीं है। यह वर्ग अपनी अस्मिता के लिए जो संघर्ष कर रही है उनकी भी अभी तक शब्दबद्ध नहीं किया गया है। इन ७५ करोड पर ८-१० करोड की संख्या में जो प्रस्थापित वर्ग है, जो संपन्न वर्ग है, उसकी सत्ता बन रही है इन १० करोड लोगों की दो प्रतिनिधि सरकार बनती है। सत्ता, संपत्ति इनकी ओर ही है। नौकरशाही इनकी इशारे पर हो सकती है। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से जो उपेक्षित है, वे संगठित न हो इसके प्रयास निरंतर होते रहे है। भविष्य में तो और भी तेजी से होते रहेंगे। ये ७५ करोड संगठित हो होकर जब सत्ता हथिया लेंगे, तभी इनकी, स्थिति में आमूल परिवर्तन की संभावना है। दलित-साहित्य के केंद्र में यही ७५ करोड है। परंतु इन ७५ करोड की समन्वित ध्वनि अभी भारतीय साहित्य में सुनाई नहीं हुआ। अगर यह कहें कि आज का भारतीय दलित साहित्य दलितों का जो अल्पसंख्यायक हैं उनका ही है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। अभी समाज के अनेक तबकों की अनुभूति साहित्य में गुजंती है। इसी कारण दलित साहित्य के पास सुनहरा भविष्य है। जनतंत्रिक व्यवस्था में ही दलित जन संगठित हो अपने आम अधिकारों के लिए संघर्ष कर सकते हैं। इस उपेक्षित मनुष्य को, पूरी शक्ति के साथ खडे करने का दायित्व दलित साहित्य को निभाना है। इस मनुष्य का कल्याण ही दलित साहित्य का प्रस्थान बिंदु है। और वही उसका लक्ष्य भी।

आधार ग्रंथ-

१) भारतीय दलित साहित्य : डॉ. तेजस्वी कट्टीमनी

२) हिंदी दलित कथा : सं. डॉ. संजय नवले

३) मराठी दलित कहानियाँ : सं. डॉ. संजय नवले

४) दलित साहित्य : संवेदना और स्वरुप- डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे

•••

मराठी ख्रिस्ती साहित्याचे मराठी साहित्याला योगदान

डॉ. सिसिलिया कार्व्हालो



एकीकडे, प्रकाशाचा सण म्हणून साजरा केलेला नाताळ आणि दुसरी कडे धर्मांतराच्या प्रश्नावरच माजलेला गदारोळ त्यातच २६ नोव्हेंबर २००८ रोजी मुंबइवर झालेला दहशतवादी हल्ला या पार्श्वभूमीवर मराठी भाषक ख्रिस्ती समाजाच्या, मराठी साहित्यातील योगदानाविषयी विचार मांडायचे आहेत. भाषा म्हणजे संस्कृतीच असते. एकीकडे ख्रिस्ती धर्म हा पौर्वात्य, परकीय देशाकडून आलेला, त्या अनुषंगाने आलेली संस्कृती आणि दुसरीकडे मराठी भाषक ख्रिस्ती समाज व त्यांनी अंगिकारलेला वा पिढीजातपणे आलेली मराठी संस्कृती यांचा सुरम्य मेळ ख्रिस्ती समाजात साधला गेलेला आहे आणि हेच पहिले व मोठे योगदान मराठी भाषक ख्रिस्ती समाजाचे मराठी साहित्याला आहे. भाषेमधून त्या समाजाची संस्कृतीच डोकावत असते आणि साहित्य तर या सीमारेषा पुसून टाकत असते व माणूस म्हणून, व्यक्ती म्हणून त्यांना त्यांची ओळख करुन देत असते.

स्वातंत्र्योत्तर काळातील मराठी भाषक ख्रिस्ती समाजीय साहित्याविषयी आपण बोलतो आहोत याचे भान हवे. बदलत्या समाजाची पदचिन्हे त्यात उमटलेली आहेत. मराठी साहित्य हे विविध प्रवाहांनी व विविध चळवळींनी आपल्या विकासाचे टप्पे मांडल्यामुळे समृद्ध झालेले आहे. समाजात उद्‌भवलेले संघर्ष आणि विद्रोह यांचे प्रतिबिंब या साहित्यात उमटलेले आहे. परिवर्तनाचे खळाळ त्यात ऐकू येतात.

मध्ययुगीन काळात, संताच्या काळात,'आध्यात्मिक लोकशाही' निर्माण झाल्याचे संशोधक व अभ्यासक गं.बा.सरदार यांनी म्हटलेले आहे. कारण या काळात विविध पंथाचे, जाती-पातीचे लोक तसेच स्त्री-पुरुष लिहू लागले होते.त्या अर्थाने ती सांस्कृतिक लोकशाहीही होती. आज नऊशे वर्षानंतर अशीच सांस्कृतिक लोकशाही निर्माण झालेली आहे. एकीकडे प्रत्येक धर्म-पंथातील मूलतत्ववाद वाढलेला आहे... तसेच त्या त्या समाजातील धर्माचा व्यापक अर्थ लावणाऱ्या व्यक्तिंनी आणि कलावंतांनी आपले प्रतिमा दर्शन घडवून विविध साहित्य कृतीतून जो आत्मविष्कार केला; त्या त्या व्यक्तिंनी 'लोकशाही' चेही दर्शन घडविले आहे.

संतांच्या काळात भाषेवर होणारी आक्रमणं, त्यातून मराठी भाषा जपल्याचे प्रयत्न आहे; तशीच परिस्थिती, इंग्रजीच्या आक्रमणातून मराठी वाचवण्याबाबत आज आहे. त्यामुळे ख्रिस्ती म्हणजे इंग्रजी बोलणारा असा प्रचलित गैरसमज, मराठी भाषक ख्रिस्ती लेखकांनी फोल ठरविला आहे आणि मराठी भाषेला मोठी प्रतिष्ठा प्राप्त करुन दिलेली आहे.

'मराठी ख्रिस्ती साहित्य' वा 'ख्रिस्ती मराठी साहित्य' असे म्हणताना त्याला आर्थिक साहित्याचा गंध येतो. म्हणूनच मराठी भाषक ख्रिस्ती समाजाचे / समाजातील साहित्य असे म्हणणे उचित ठरते. शिवाय हे साहित्य केवळ 'साहित्य' या निकषावर तपासता यावे असेही वाटते. खरे तर साहित्य हे साहित्यच असते. जाती-धर्म-पंथ यानुसार त्यात भेद करता येऊ नयेत. 'सत्य-शिव-सुंदरता' या अविष्कार साहित्यात झालेला असतो, मग ते कोणत्याही धर्मातील, थरातील साहित्य असो. ग्रामीण, दलित, आदिवासी साहित्य म्हटले की, विशिष्ट समाजाचे साहित्य समोर येतो. ख्रिस्ती, मुस्लिम, बौद्ध, जैन, महानुभाव सुफी साहित्य म्हटले की, त्याला धर्म आणि पंथ यांचा लेप लागलेला दिसतो हे शब्द धर्मसूचक आहेत. 'ख्रिस्ती साहित्य' असे तेव्हा म्हटले जाते तेव्हा, ख्रिस्ताविषयक, ख्रिस्ती धर्मविषयक वा ख्रिस्ती धर्म-प्रचार-प्रसाराचे साहित्य असा त्याचा अर्थ होतो. मात्र मराठी भाषक ख्रिस्ती समाजीय लेखकांचे साहित्य असे म्हटले तर ख्रिस्ती धर्माचे संस्कार व मराठी समाजाचे व संस्कृतीचे संस्कार यातून संस्कारित व संकरित झालेले साहित्य, 'साहित्य या निकषाला पात्र ठरणारे होऊ शकले, जसे चित्र कलेला, आपण मुस्लिम चित्रकला, ख्रिस्ती, यहुदी, हिंदू चित्रकला असे म्हणत नाहीत. शिल्प, नृत्य, क्रिडा, संगीत यांना जशी आपण धर्माचे नावे देत नाहीत, तसे साहित्यकलेलाही देऊ नयेत, धर्माचे नाव दिल्यामुळे एका विशिष्ट धर्माच्या कक्षेतच फिरत राहिलेले असते. त्यामुळे साहित्याला आयोजित मुलभूत नाते, सिद्धात, लौकिक-पारलौकिक जीवनासंबंधीच्या धारणा यांनी धार्मिक साहित्य बंदिस्त झालेले असते.

आरंभीच्या काळातील ख्रिस्ती धर्मप्रचारकांचे लेखन, ख्रिस्तविषयक, ख्रिस्ती धर्म विषयक होते. त्याचबरोबर व्याकरण कोश विज्ञान विषयक ही लेखन केले परंतु त्याला ख्रिस्ती व्याकरणशास्त्र, ख्रिस्ती विज्ञान ख्रिस्ती कोश असा लेप लागलेला नाही. सर्व धर्मीयांचे शरीर शास्त्र जीवशास्त्र हळूच असते. म्हणजेच शास्त्रीय, धार्मिक साहित्याची बैठक वेगळी असते. तसे भाषेचे व्याकरणही एकच असते. ख्रिस्ती, मुस्लिम, जैन, बौद्ध धर्मियाची मराठी भाषा म्हणून त्यांचे

वेगळे व्याकरण अस्तित्वात नाही म्हणूनही केवळ ख्रिस्ती साहित्य व साहित्यिक असे म्हणणे संयुक्तिक वाटत नाही.

'ख्रिस्ती साहित्या' संबंधी एवढं विस्ताराने सांगायचं कारण एवढंच की, 'मराठी ख्रिस्ती साहित्य' मुंबई येथे झाले त्यावेळी ख्रिस्ती साहित्य हे प्रचारकी की, निखळ साहित्य ? उजगरेचे साहित्य ख्रिस्ती साहित्य आहे का? असा प्रश्न उपस्थित केला गेला होता. त्यावेळी त्याचे उत्तर देताना मी म्हटले होते; की, आपल्या ख्रिस्ताने दिलेल्या प्रेम करुणा, क्षमा, सत्य,मार्ग, जीवन प्रकाश यांचा संदेश निरंजनच्या साहित्यातून अविष्कृत झालेला आहे, आणि अन्य कोणत्याही समाजातील साहित्याच्या साहित्यातून ही मूल्य दिसून येतात, कारण साहित्याचा मूळ उद्देशच आहे, सद+हित. त्यामुळे निरंजनचे साहित्य आपण मर्यादित समाजापुरतेच समजू नये, विविध धर्म-पंथियांच्या, स्तरा-थरातल्या साहित्याने मराठी साहित्य समृद्ध केलेले आहे , ते असे.

मराठी भाषक ख्रिस्ती समाजातून आलेल्या साहित्याचा विचार करताना प्रोटेस्टंट व कॅथलिक पंथीय, धर्मांतरित व पिढीजात ख्रिस्ती समाज, व स्त्रियांचे आणि पुरुषांचे साहित्य अशी विभागणी करावी लागते.

वसई आणि कोकणातील धर्मांतरहे पोर्तुगिजांच्या काळातील आहे, आणि प्रोटेस्टंट पंथिय हे इंग्रज व अमेरिकन मिशनऱ्यांचा कारकीर्दीतील अपत्य आहे. आणि या दोन्हीही प्रमुख पंथियात पुरुष-लेखकांचे प्रमाण अधिक आहे आणि स्त्री-लेखकांचे प्रमाण अत्यल्प आहे आणि याचे उत्तरही स्पष्ट आहे; कारण धर्मग्रंथ हे पुरुषांनी लिहिलेले आहेत आणि पुरुषी वर्चस्वामुळे स्त्रियांच्या लेखनस्वातंत्र्यावर मर्यादा आलेल्या आहेत. त्यामुळे साहित्य क्षेत्रात ख्रिस्ती समाजातील स्त्रियांचं प्रमाण अत्यल्प आहे.

प्रोटेस्टंट धर्मांतरित व पिढीजात मराठी लेखकांना मराठी साहित्य विश्वात सामावून जाण्यासाठी संघर्ष करावा लागला नाही. कारण त्यांची नावे, आडनावे मराठीच राहिलेली होती; परंतु वसई व कोकणातील मराठी भाषक ख्रिस्ती समाजातील लोकांची नावे आडनावे पोर्तुगीज वा इंग्रजी राहिल्याने त्यांची मातृभाषा मराठी असूनही, मराठी भाषक समाज त्यांच्या भाषेबद्दल आश्चर्य प्रदर्शित करीत होता. धर्म आणि भाषा यांचा संबंध लावल्याने असे होत होते; परंतु आज मराठी भाषक व पिढीजात ख्रिस्ती असलेल्या लेखकांकडून मोठ्या प्रमाणात मराठी साहित्य येत आहे. आणि त्यांची व्याख्यानं महाराष्ट्रभर होत आहेत. त्यामुळे त्यांच्या मराठी भाषेविषयी शंका घेतली जात नाही आणि अगदी सहजपणे हा समाज मराठी समाजात मिसळून गेलेला आहे. ही मोठी जमेची बाजू आहे.

मराठी भाषक ख्रिस्ती जनांची , स्वातंत्र्योत्तर काळातील मराठी साहित्याची सेवा विपुल प्रमाणात आहे.

१) नियत कालिके: १८४२ साली सुरु झालेले 'ज्ञानोदय' आजतागायत चालले आहे. 'निरोप्या' मासिकाने शताब्दी पूर्ण केलेली आहे. 'सुवार्ता' ने 'सुवर्ण महोत्सव' साजरा केलेला आहे. 'जनपरिवार' या साप्ताहिकाने बत्तीस वर्षे पूर्ण केलेली आहेत. 'आपण' हे नियतकालीक नऊ वर्षे चालले. ख्रिस्ती लोकहितवादी बावीस महिने चालले, 'वसई टाईम्स', 'निर्भय आंदोलन', 'नवकिरण' असी अन्य शेकडो नियतकालिके/अनियतकालिके प्रकाशित होत आहेत आणि नवोदित व प्रस्थापितांना हक्काचे व्यासपीठ मिळत आहे.

२) साहित्य संमेलने: १९२७ साली डॉ. निकल मॅकनिकल या परदेशी धर्मप्रसारकाच्या अध्यक्षतेखाली सुरु झालेले मराठी ख्रिस्ती साहित्य संमेलन आता मे २००९ मध्ये होणाऱ्या बावीसाव्या संमेलनापर्यंत पाहोचले आहे.

३) काव्य: रॉक कार्व्हाले, इनास कून 'निरंतर' सी.बी.दोडती, निरंजन अनुपमा उजगरे, रमण रणदिवे, नंदकुमार शेंगडे, जॉर्ज लोपीस, सिसिलिया अनुपमा उजगरे, प्रवीण गायकवाड ३० अनेक कवींच्या कविता संपन्न झालेला हा विभाग आहे.

कथा: सी.बी.दोडती, सिसिलिया, श्याम फरांदे, अनुपमा उजगरे, फ्रान्सीस लोपीस जोसेफ तुस्कानो यांनी चांगले प्रयत्न कथा प्रांतात केलेले आहेत.

कादंबरी: सी.बी.दोडती, सुधाकर सुमित्र थोरात, स.ना.सूर्यवंशी, देवदत्त हुसळे, श्यामला मोरे, रॉक कॉव्हील्ये, निरंजन उजगरे ३० चे चांगले योगदान या वाङ्मय प्रकारात आहे. आजपर्यंत बंदिस्त समजले जाणारे कॅथलिक चर्चमधील धर्मगुरु- धर्मभिगिनींचे क्षेत्र सतीश रणदिवे, फा.फ्रान्सीस घोन्सालवीस, संदीप हळदणकर, यांच्या कादंबऱ्यांतून आलेले आहे.

नाट्यवाङ्मय ३ या विभागात, जयंतकुमार त्रिभुवन, फादर मायकलजी, एडवर्ड दिकूज, श्यामला मोरे यांचे मोठे योगदान आहे

ललितगद्य/प्रवासवर्णन: फादर फ्रान्सीसस दिब्रिटो, सिसिलिया कार्व्हालो यांच्या प्रसादिक लेखकाने हा विभाग संपन्न झालेला आहे.

चरित्र: ख्रिस्ती संतांची चारित्रे, बिपुल, प्रमाणात आलेली आहेत. पोप महाशय, मदर तेरेसा, यांच्या चारित्र्यांपासून तर आचार्य स.ना. सूर्यवंशीनी ख्रिस्ती कर्तृत्त्ववान जनांची लिहीलेली चरित्र प्रसिद्ध आहेत.

आत्मचरित्र: अगा जे कल्पिले नाही स.ना.सूर्यवंशी/आमचे कृतार्थ सहजीवन-रुथबाई हिवाळे

अलोन अगेन्स्ट रोम- ॲड. रमेश सात्राळकर

कुणास्तव कुणीतरी- यशोदा पाडगावकर, ख्रिस्ती महार- बाळासाहेब गायकवाड

धर्मांतर ते त्वाप्रीज्मा- इसादास भडके

झाले मोकळे आकाश

अशोक सूर्यवंशी अशा विविध समाजातील आत्मचरित्र्यामुळे, लक्ष्मीबाई टिळकांपासून सुरु झालेला आत्मचरित्राचा प्रवाह अधिकाधिक प्रयत्न हो चाललेला आहे.

बालवाङ्मय: जयंतकुमार त्रिभुवन, मुक्ता टिळक, जोसेफ, तुस्कानो यांनी या विभागाने भरीव स्वरुपाचं लेखन केलेलं आहे.

वैज्ञानिक: या भागात जोसेफ तुस्कोनो, जयंतकुमार त्रिभुवन

समीक्षा: या विभागात सुनील आढावा या संशोधकाचं नाव महत्त्वाच आहे.

ऐतिहासिक: डॉ. रजीन डिसिल्वा आणि फादर फ्रान्सीसकोरिया यांनी मोलाचं काम या विभागात केलेलं आहे.

लोकसाहित्य: फादर कोरिया यांनी सामवेदी बोलीचं आणि सिसिलिया कार्व्हालो यांचं वाडवळी बोलीविषयक केलेलं लेखात मराठी लोकसाहित्य विषयक लेखनात भर घालणारे ठरले आहे.

संशोधनात्मक: फादर प्रशांत ओलालेकर, फादर ख्रिस्तोफर शेकडे, फादर करिदाद द्रागो. डॉ. समता बांदिवडेकर, विद्यागौरी टिळक, डॉ. सुभाष पाटील, डॉ. दैविलिला डोईफोडे, फादर एलामस रॉड्रिग्ज, डॉ. अनुपमा उजगुरे, डॉ. सिसिलिया कार्व्हालो , डॉ. टोनी जॉर्ज,डॉ. नाझरेथ मिस्कीटा यांचं या विभागातील कार्य अत्यंत मोलाचं आहे.

शैक्षणिक: फादर मायकलजी, जयंतकुमार त्रिभुवन यांनी पाठ्यपुस्तका संदर्भात केलेले कार्य समाजात मान्यता पावलेले आहे.

धार्मिक आध्यात्मिक:

अनुवाद इ. 'बायबल' विषय विपुल प्रमाणात लेखन फादर दिसरी फर्नांडिस व फादर प्रसाद परेरा यांनी केललं आहे.

ख्रिस्ती समाजातील दलित हा एक महत्त्वाचा स्तर आहे. धर्मांतराआधीचे दलित आणि धर्मांतरानंतरचे दलित असा दोन पातळीवरचा संघर्ष यात दडलेली आहे. ख्रिस्ती समाजाने उच्च व नीच वर्गीय असा भेदभाव केला जात नाही; हे खरे आहे. परंतु भारतीय समाज-व्यवस्थेची उतरंड सर्वविहीतच आहे. धर्मांतरित ख्रिस्ती जनाकडे पाहण्याचा ख्रिस्ती समाजाचा व अन्य समाजाचाही दृष्टिकोन अजून विकसित व्हायला हवा. कारण हा केवळ धर्माचा प्रश्न नाही; तर सामाजिक प्रश्न आहे. त्यामुळे हा प्रश्न साहित्यात येणे अपरिहार्य व आवश्यक आहे.

एकूणच दलित साहित्याच्या चळवळीतून जे वाङ्मय आले, व त्यामुळे जशी खळबळ साहित्यात उडाली; तशी ख्रिस्ती समाजातील साहित्याने उडालेली दिसत नाही. ख्रिस्ती दलितांनी असे साहित्य का लिहावे; असे म्हणत ख्रिस्ती समाजानेच भुवया उंचावलेल्या आहेत. सत्यवान नामदेव सुर्यवंशी यांच्या आत्मकथनाने, 'अग जे कल्पिले नाही' या पुस्तकाचे वादळ उठले होते. परंतु 'ख्रिस्ती महार' या बाळासाहेब गायकवाड यांच्या आत्मकथनाने समाजातून जो हादरा बसला; तो हडपून टाकण्याचा प्रयत्न झाला. धर्म आणि समाज यांच्या दडपणामुळे बाळासाहेब गायकवाड यांना पुन्हा धर्मांतर करावे लागले: त्यांनी पुनश्य हिंदू धर्म स्वीकारला. या संघर्षात त्यांची इतकी दमछाक झाली; की त्यात य अठ्ठेचाळीस वर्षीय तरुणाचा मृत्यू झाला. इसादास भडके यांनी 'बाप्रीज्मा ते धर्मांतर' या पुस्तकाचे ख्रिस्ती कुटुंबात जन्म झालेल्या इसादास भडके यांनी बौद्ध धर्म्माचा स्वीकार करेपर्यंतचा प्रवासाचे वर्णन केलेला आहे.

फ्लेविया अग्नेस यांच्या 'कथा-तुमची -माझी: उद्धवस्त जीवन उभारण्याची' या आत्मकथनात कौटुंबिक हिसांचार आणि चर्चची भूमिका यांचे दर्शन घडविले आहे. यशोदा पाडगावकर यांच्या 'कुणास्तव कुणीतरी' आणि उभा राठोड यांच्या 'सिटी ऑफ मांडवी' या आत्मचरित्र्यांत अन्य समाजातील (अनुक्रमे ब्राह्मण आणि बंजारा) पुरुषाशी लग्न केल्यावर देखील धर्मांतर करण्याचा प्रश्न उद्भवला नाही असा एक विकासाचा टप्पा दिसून येतो.

लोकसाहित्य विषयक लेखनात मराठीच्या प्रचलित बोली सामवेदी आणि वाडवळी याचं सुरम्य दर्शन फादर कोरिया आणि सिसिलिया यांनी घडवलेलं आहे.

एकूणच आजचं मराठी भाषक ख्रिस्ती समाजातील साहित्य धार्मिकतेच्या प्रभावातून मुक्त होऊन वास्तवाकडे आलेलं आहे, साहित्य या निर्कषास पात्र झालेलं आहे आणि मराठी साहित्याने ते आपल्यात सामावून घेतलेलं आहे. ही प्रतिष्ठेची आणि सन्मानाची गोष्ट आहे.

•••.

पूर्वोत्तर के साहित्य का महत्व : जनजातीय सन्दर्भ में

डॉ. रमणिका गुप्ता



मेरी समझ में उपरोक्त विषय का अर्थ है पूर्वोत्तर के जनजातीय साहित्य का महत्व! लेकिन महत्त्व किसके लिए? इस महत्व को परखने की कसौटी क्या होगी और इसे देश की मुख्यधारा के साहित्य के संदर्भ में आंका जाए या जनजातीय आबादी तक ही इसे सीमित रखा जाए?

इसे साहित्य के विकास या विस्तार के मापदण्ड पर परखा जाए अथवा सामाजिक-राजनीतिक व सांस्कृतिक कसौटियों पर कसा जाए।

दरअसल जो साहित्य दर्द के रिश्ते की कसौटियों पर खरा उतरता है वह स्वतः सभी कसौटियों पर खरा होता है। सवाल यह है कि पूर्वोत्तर के जनजातीय साहित्य का भारतीय साहित्य से दर्द का रिश्ता है या नहीं? है तो कितना है? नहीं है तो क्यों नहीं है? कौन दोषी है? रिश्ता कायम करना है तो किसे पहल करनी होगी?

सवाल यह भी है कि जनजातीय साहित्य तथाकथित मुख्यधारा के साहित्य से सम्बन्ध बनाने, या जनमानस की मानसिकता बदलने, और हाल में विकासित हो रहे अलगाव-बिलगाव को पाट कर परस्पर संवाद चलाने में कैसे और कितनी दूर तक सक्षम या कामयाब हो सकता है?

भाषा के स्तर पर यह साहित्य मुख्यधारा की भाषाओं- विशेषकर हिन्दी में क्या इज़ाफ़ा कर सकता है और इनसे खुद को समृद्ध कर सकता है?

इसी तरह विचारधारा के स्तर पर हिन्दी या देश की अन्य भाषाओं का साहित्य, इस साहित्य से कितनी दूर तक प्रभावित हो सकता है या क्या दिशा व संस्कार ग्रहण कर सकता है?

यह साहित्य अनुभव आधारित यथार्थ है, जो प्रकृति से सहजीवन का सम्बन्ध रखता है। यह साहित्य केवल कल्पना पर नहींबल्कि ठोस जीवन के अनुभवों से रचा जाता है। इसलिए यह तो निश्चित है कि हिन्दी या देश की अन्य भाषाओं के सम्पर्क में आने पर उन्हें देने के लिए इसके पास नये विचार, नये शब्द, मुहावरे, किवदंतियां, लिजिन्द्रियां, मिथक, सृष्टि-सृजन की लोक कथाओं के नए आयाम, प्रेम व शौर्य की गाथाएं, विद्रोह तथा इतिहास की स्मृतियां हैं, पिछले पांच हजार वर्षो का भोगा हुआ सच है, इतिहास है, जो उनके अनुष्ठानों-पवों में गया व सुनाया जाता है। उनके पास साहस और प्रकृति के साथ सहभागिता से जीने का ढंग है। समानता, भाईचारा, आजादी, सामाजिक व प्राकृतिक न्याय उनका स्वभाव है। सामूहिक जीवन-शैली, अनुशासन और जीवन- अनुभवों के यथार्थ पर आधारित मूल्य-बोध उनकी विरारत है-बशर्ते देश की मुख्यधारा की भाषाएं, खासकर हिन्दी अपने द्वार खोल कर उनका स्वागत करने को तैयार हो। यह अभी तक तो नहीं हो पाया है। यह तभी संभव है जब हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के बीच अनेक बोली-भाषाओं में रचे जा रहे जनजातीय साहित्य का दर्द का रिश्ता बने। इसके बिना मानसिकता में बदलाव कठिन है।

हिन्दी वाले उपदेशक-सुधारक श्रेष्ठ व्यक्ति बन कर, इनकी जीवनशैली में हस्तक्षेप करने, इन पर वर्चस्व कायम करने, अपना मत या अपने साहित्य, भाषा और धर्म का सिक्का जमाने आते रहे हैं। जबकि खुद उन्हें ही इनसे कुछ सीखने की दरकार है इनके मूल्यों, जीवनशैली और सामूहिकता की परंपरा को आत्मसात करने की ज़रूरत है। वे इन्हें साथी समझें, दास नहीं, ताकि दोनों एक-दूसरे से सीख कर समृद्ध हों।

यह सवाल किया जा सकता है कि पूर्वोत्तर तो स्वयं आतंकवाद की गिरफ्त में है, भला यह देश की मुख्यधारा को क्या देगा? पर कभी सोचा है हमने कि यह आतंकवाद किसकी देन है? यह हिंसा किसकी करतूत है? मुख्यधारा ने इन्हें शताब्दियों से सभ्यता-बाहर रखा था? कोई सौ-डेढ सौ साल पहले जब पश्चिम से आये मिशनरियों द्वारा दी गई लिपि इनके हाथ लगी, तो उन्हें अभिव्यक्ति की ताकत मिल गई। भले लिपि देने वालों ने उन्हें अपने स्वार्थवश ही लिपि थमाई थी। किन्तु हम भारतीयों ने तो उन्हें सदियों से न सिर्फ गूंगा बनाए रखा था, बल्कि उनके ज्ञानार्जन पर पाबन्दी भी लगा दी थी। अभिव्यक्ति की ताकत मिलने पर उनके मन और दिमाग में विचारों का सोता फूट पड़ा। अनुभव का तो भरपूर भण्डार था ही उनके पास, वाचिक साहित्य की एक समृद्ध परंपरा एक धरोहर के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनके साथ चली ही आ रही थी बस फिर क्या था!

तीर-तलवार, टांगी-भाला के बदले उनके हाथों ने कलम

थाम ली। कलम के बल पर उन्होंने अपने हक की लड़ाई शुरु कर दी। वे करने लगे आकलन अपनी यातनाओं का, लेने लगे हिसाब अपने संसाधनों का, अधिकारों का। कागज़ों, पोथियों और पुस्तकोंपर उतरने लगे उनके शब्द कहानी बन कर, उपन्यास व कविता बनकर! शब्दों ने रच दिए नाटक जो रंगमंच पर खेले जाने लगे।

वे सदा से ही मुसीबत के समय भी आनन्द के साथ रहने में माहिर हैं। बस रचने लगे जीवन का, जीवट का, जीवनशैली का, मुक्ति का साहित्य; जिनमें सामूहिक फैसले, समानता, भाईचारा और आजादी प्रतिध्वनित होने लगी। उनका साहित्य आनन्द के लिए नहीं-बदलाव के लिए, मन पर चोट करने के लिए मन बदलने के लिए लिखा जाता है और जीवन से जुड़ा है।

विडम्बना यह है कि हमने यानी बाकी देश ने, खासकर हिन्दी वालों ने उन्हें समझा नहीं, ना ही उन्हें माना। हमने न सिर्फ उनसे अजनबियत का रिश्ता रखा बल्कि उनके संसाधनों पर, उनकी औरतों पर भी अपनी कुत्सित, लोलुप नजरें गड़ाए रखीं। पश्चिम से आए फिरंगी मिशनरियों से हम किसी तरह कम नहीं थे। वे उपनिवेशवाद के तहत उनका शोषण कर रहे थे तो हम आन्तरिक उपनिवेशवादी के रूप में उनका दोहन करने में दक्ष थे। हम उन पर अपना धर्म, अपनी भाषा लादने के फिरक़ में रहें, इसीलिए उनकी तरफ से प्रतिरोध हुआ।

अगर हम गंभीरता से देश को एकजुट करने की नीयत से, प्यार भरे अन्दाज में उनके पास जाते, उनकी भाषा सीखते-बोलियाँ सीखते, उनसेअपनापा बढ़ाते तो वे भी हमारा स्वागत करते। तब उनके और हमारे बीच वे और हम के संबोधन नहीं होते। आप तो उनकी संस्कृति को जंगली, असभ्य कह कर खुद को श्रेष्ठ साबित कर, हिन्दू संस्कृति की वही जात-पात, भेदभाव भरी नीति के शास्त्र लेकर उनके पास जाते थे। क्या यह भी पादरियों की ही तरह धर्म परिवर्तन करने की शैली में हिन्दू धर्म का प्रचार नहीं था? वे बाइबिल लेकर आये थे, हम मनुस्मृति, रामायण, महाभारत लेकर पहुंचे। उसके बाद हम लोगों ने भी उन्हें काबू करने के लिए बन्दूकों का इस्तेमाल शुरु कर दिया। यह ठीक वैसे ही था जैसे पश्चिम के वैल्श, अंग्रेज व अमरीकी पादरी बाइबल लेकर आये थे और उनके आगे-पीछे या साथ-साथ सत्ता के बन्दूकधारी भी घुस आये थे। इस पश्चिमी और भारतीय घुसपैठियों के बर्ताव से आहत मेघालय का एक कवि आलमंड सिएम लिखता है-

कोई पीतावर्णा दिव्य तेज़स्वी
चेहरे वाला युवक
एक बार आया कोहरे में लिपटी
हमारी पहाड़ियों में
लाया था वह हमारे लिए चिट्ठियां,
साहित्य और बाइबिल
वह था 'वैल्श' का निवासी।
पर टॉमी लाए द्वेष
और हमारी हरित भूमि पर छिड़क दिया
हमारे पुरखों का रक्त
और हमसे गोलाबारी के अंदाज़ में
की बातें (एक वैल्श कवि से मुठभेड़)

इसके बावजूद हममें और उन पश्चिमी उपदेशकों में एक फर्क था। पश्चिमी सत्ता उन्हें गुलाम समझती थी लेकिन पश्चिमी उपदेशक उन्हें मनुष्य समझते थे और अपने धर्म में परिवर्तित कर उनमें समानता की इच्छा जगाते थे। हालांकि वे भी उन्हें अपनी सभ्यता से नफरत करना ही सिखाते थे। उन्हें पगान, जाहिल, असभ्य व जंगली समझकर मनुष्य बनाने की मंशा रखते थे, जिसके कारण पूर्वोत्तर के पढ़ने-लिखने वाले लोगों में एक हीन भावना विकसित होने लगी।

मेघालय का कवि डेज्मंड खरमाओफ्लांग महसूस करता है -

''अपने विदेशी संरक्षकों के
स्याह चोगों में छिपकर
मुझे सिखाया गया था
खुद अपने-आप पर शार्मिंदा होना।''

पर इस सबको बावजूद इन उपदेशकों ने भले अपने धर्म की खातिर ही सही, उन्हें पढ़ाना शुरु किया। लेकिन हमने तो उन्हें अपने धर्मग्रंथो को दूर से भी दर्शन करने की इजाज़त नहीं दीं। हमने तो उन्हें इस डर से ज्ञान से भी वर्जित रखा कि कहीं वे हमारे अंधविश्वासों, कुतिकों से भरे, भेदभाव से लैस धर्म पर प्रश्न न करने लगें! हमने उन्हें अछूत बनाए रखा, राज करना चाहा उन पर। वे हमें अपना शत्रु मानने लगे। आख़िर क्यों? कभी सोचा हमने? क्या हमने कभी आत्मालोचना की? दरअसल हम उन पर अपना वर्चस्व कायम चाहते थे-उनसे कुछ सीखना नहीं। जबकि सच यह है कि सीखना हमें था उनसे। हमें ग्रहण करने थे उनके मूल्य, पर हम अपनी विकृतियां, छल लेकर उनके पास अपने ज्ञान का आतंक जमाने जाते रहे। उनमें हीन-भावना भरते रहे। उन्हें जंगली असभ्य कहते रहे। व्यापारी बनकर, सेना लेकर विजेता की तरह हम उन्हें लूटने जाते रहे। कहां कुछ फर्क था पश्चिम के विदेशियों और भारत के देशी शासकों में या तथाकथित मुख्यधारा में। फलतः वे प्रतिरोध करने लगे और हिंस्र हो गये विदेशियों द्वारा अपनी

धरती से बलात्कार के खिलाफ वे काफी दुःखी थे। इसकी खिलाफत करते हुए डेज्मंड खरमाओफ्लांग कहते है -

'गोलियों के उपहार, खून सना पैसा और धन से'

पहले अंग्रेजों द्वारा उनकी धरती पर कब्जा कर लिया गया और फिर मैदानी क्षेत्रों से चारों तरफ से देसी बहिरागत-

'पसीने से तर-बतर मैदानों से/हर छोर से आए'

और शिलांग में भड़क उठी हिंसा, जिससे उसके मन को भीतर तक झकझोर दिया। वे शिलांग की दंगाग्रस्त गलियों का बयान करते हुए मैदानों में बिखरी अनरोई लाशों को देखकर कह उठते हैं -

'दो जिंदगियाँ मुचड़ी-मरोड़ी
पड़ी हैं रक्त के मैदान में
पराया आकाश भी नहीं रोया उनपर'

सत्य तो यह है कि हमने उन पर आतंकवाद थोप दिया। हम उनके पास पैसा लेकर पहुंचे और हथियार भी। लाठियाँ भांजी और गोलियाँ दागीं। हम कागजी योजना लेकर गये, घोषणाएँ की, पर उन तक पहुँचा कुछ नहीं, पहुंचे तो केवल हमारे गुमाश्ते उनकी जमीनों पर कब्जा करने के लिए-हमारे सिपाही स्त्रियों से बलात्कार करने के लिए, उनके पहचान के आन्दोलन को रौंदने के लिए। इसलिए असम के कवि ब्रजेन्द्र कुमार ब्रह्म कहतें हैं -

'इतर जातियों के प्रपंच ने किया तुम्हें
जंगलोंमें छिपने को मजबूर
तुम लुटे बहिरागतों के हाथों
अपनी ही जमीन पर बन गये परदेसी
और परदेसी बन गए मालिक।'

वे आपके यहाँ आए तो आपने पूछा-क्या आप बर्मी हैं? जब हमने नागा को, मिजो को बर्मी या चीनी कहकर पुकारा तो उन्हें सन्देह होने लगा- ''हम कौन हैं?'' वे खुद से सवाल करने लगे। हम हिन्दुस्तानी हैं तो ये लोग हमें पहचानते क्यों नहीं? वे अपनी जड़ों की खोज में निकल पड़े। -नाक-नक्श भी अलग हैं हमारे! तो क्या हम अलग हैं?'' सवाल उठने लगा। अपनापन खत्म होने लगा। अपनापा नहीं दिखाया हमने और वे अलग होते गए।

''हम पर शासन करते हैं और हमें पहचानते भी नहीं? फिर क्या हक है इन्हें हम पर शासन करने का?''

हिन्दी वाले पहुँचे-वे इनकी कथाओं में रामकथा तो अवश्य खोजने लगे, हिन्दुत्व का प्रभाव भी सिद्ध करने लगे, मगर उन्होंने कभी सोसोथम द्वारा लिखित उस ग्रन्थ को नहीं खोजा, जिसमें खासियों में प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही लोकतान्त्रिक प्रणाली का इतिहास कविता में लिखा है।

इन्होंने उनकी सृष्टि की सृजन कथा नहीं खोजी जो आदिम काल से चली आ रही है-कहीं-कहीं तो ये मिथक व लोककथाएं 'बिग बैंग' के ब्योरे की चश्मदीद गवाह-सी लगती हैं, तो कहीं पृथ्वी के निर्माण की कथा, डारविन की मनुष्य के विकास कथा-सी मालूम पड़ती है। बेंजेमिन एल्विन ने इनकी लोककथाएं संकलित कीं-हमने नहीं। आखिर क्यों?

इनके मिथक अद्‌भूत हैं और कल्पना में बेजोड़ हैं । इनकी लोककथाएं हमारे हितोपदेश से भी आगे चली जाती हैं। इनकी प्रेम-कथाएँ भी हैं, जो न केवल स्त्री-पुरुष की कथाएं हैं बल्कि पक्षियों और पशुओं के प्रेम के प्रति भी संवेदनशील हैं। पेढ़की क्यों गुटर-गूं करती है, दो युवा पक्षियों की प्रेम-कथा है, जो दो अलग-अलग कबीले के हैं, तो लापलाँग की कथा हिरणी माँ तथा हिरण शावक के अनुराग और स्नेह की कथा है। अपने बच्चे की सुरक्षा के लिए चिन्तित माँ की बेचैनी पाठक को बेचैन कर देती है।

सृष्टि के निर्माण और आग्नि की प्राप्ति तथा छोटी बहन के महत्व पर इनकी एक अद्‌भुत कथा है। एक माँ को तीन बेटियाँ थीं। मरने से पहले वह बेटियों से कहती है-जो मेरे मृतक शरीर को बिल्कुल ही समाप्त कर देगी वही मेरी उत्तराधिकारी होगी। बड़ी बेटी ने हवा का आह्वान किया। खूब जोर से हवा चली, मगर माँ के शरीर को कोई क्षति नहीं पहुंची। मां का शरीर जस-का-तस रहा।

दूसरी बहन ने पानी का आह्वान किया। उमड़-घुमड़ कर काले बादलों ने धरती को घेर लिया। इतना पानी बरसा कि जंगल उखड़ गए, पहाड़ धंस गए, पर माँ का शरीर वैसा-का-वैसा रहा।

तीसरी बेटी जो सबसे छोटी थी, ने अग्नि को पुकारा। धू-धू करती आग की लपटें धरती का घेरने लगीं। सब कुछ जलने लगा। बरसों आग जलती रही। जब आग बुझी तो माँ का शरीर नहीं था। ये मिथक हमें दो-तीन दिशाओं में ले जाता ब्रह्मांड में बिगबैंग हुआ तो ऐसी ही स्थिती थी, पृथ्वी पर समय के अंतराल में यह सबकुछ काबू में आ गया। और पृथ्वी पर जीवन अंकुरित होने लगा। दूसरी दिशा कल्पना को यह मोड़ देती है कि छोटी बेटी, जिसने माँ की शर्त पूरी की, वह मातृसत्ता चलाने वाली प्रथम स्त्री बनी, तब से मां की सारी संपत्ति छोटी बेटी को दी जानी लगी।

कार्बी की एक और अद्‌भुत कथा है जो पृथ्वी एवं मनुष्य

के सृजन एवं विकास की कथा कहती है। सारी शक्तियों (स्पिरिट्स) ने मिलकर तय किया कि धरती का निर्माण किया जाए। इसके लिए आकाश से दूतों को भेजा गया। उन दोनों ने पानी से मिट्टी निकाली और मिट्टी को गूंद कर धरती बना दी, जिसमें कहीं गड्ढे हो गए, कहीं पहाड़ बन गए।

आकाश में लौट कर जब उन्होंने धरती को देखा तो धरती बहुत सूनी-सूनी लगी। फिर उन्होंने पेड़ उगाए। ऐसे ही कई बार धरती को सुधारने के क्रम में उन्होंने पशु, पक्षी, पानी, आग-सबका धरती पर निर्माण किया। अंत में उन्हें लगा कि इन सबको भोगने वाला या इनकी प्रशंसा करने वाला कोई नहीं। वे रोज मिट्टी के पुतले बनाते , जिन्हें रोज रात हवा में दौड़ने वाले पंखों वाले घोडे नष्ट कर जाते। फिर उन स्पिरिट्सों ने कुत्ता बनाया और कुत्त ने उन घोड़ो को पुतलों को नष्ट करने से रोका और पृथ्वी पर असंख्य पुतले खड़े हो गए। स्पिरिट्स की फिर मीटिंग हुई की इनमें तो प्राण ही नहीं हैं और प्राण होने पर भी जब तक हम इन पुतलों में प्रजनन की शक्ति नहीं पैदा करेंगे, तब तक ये खुद आगे नहीं बढ़ेंगे, तब तक इनकी संख्या नहीं बढ़ेगी। तब सोचा गया कि इनमें प्राण भी डाला जाए और इनमें प्राण भी डाला जाए और इनमें प्रेम-भाव का संचार किया जाए, ताकि ये एक-दूसरे से प्यार करें, परस्पर समागम करें और इस समागम से ही मनुष्य, मनुष्य को पैदा करने लगे। तब पान ले कर हर चौराहे पर खड़ी हो गई स्पिरिट्स। हर आने-जाने वालों को प्रेम का भाव पान में रखकर दिया गया। और जो बचा जानवरों को खिला दिया गया। तब से पृथ्वी का हर जीव अपने समागम से ही अपनी संतति पैदा करने लगा।

मनुष्य को स्वयं अपनी संतति पैदा करने का अधिकार देने के बाद स्पिरिट्स ने उनकी अमरता की शक्ति छीन ली। क्या यह विकास कथा नहीं मनुष्य की? कितनी दूर तक कल्पना दौड़ी है इन आदिवासियों की। दूसरी तरफ हमारी पौराणिक कथाओं को देखें। वे केवल अंधविश्वासों को ही जन्म नहीं देती, बल्कि हमेशा लाभ और फल की आकांक्षा का सबक सिखाती हैं, जैसे सत्यनारायण की कथा। पति जहाज लेकर समुद्र में व्यापार करने गया। पत्नी ने सत्यनारायण का प्रसाद नहीं खाया, तो जहाज समेत पति डूब गया। अगले दिन उसने अपनी गलती महसूस कर प्रसाद खाया तो जहाज लौट आया। क्या यह, अंध-आस्था नहीं? आदिवासियों की कथा में हर वस्तु की कोई-न-कोई व्याख्या है। चाहें वह बादल हो, बांसुरी हो बिजली हो, नगाड़ा हो या नदी। उनके होने का कोई-न-कोई कारण होता है। दुनिया के किसी भी धर्म ने पृथ्वी को गोल नहीं माना।

मगर भारत के संथालियों की सृष्टि कथा में पिलची बूढ़ी केंचुए से मिट्टी मगाकर, चिड़िया से थाली मंगा कर गोल थाली से उसे गोल बनाती है। क्या इस को किसी और ने उजागर किया है? जबकि संथालियों ने पांच हजार साल से पहले इसकी कल्पना कर ली थी।

हमने इन्हें दूर रखा, बांटा आतंकित किया। इसके बावजूद नागा कहानीकार सिलवेस्टियन जूमवू उम्मीद नहीं हारते।

नागालैंड की दो कहानियां इस विषय पर मैंने पढ़ी हैं-एक है नेचुरियाजो चुचा की कहानी 'जड़ें', जिसका नायक विदेश से पढ़कर आता है तो गांव के लोगों के साथ वह समायोजित नहीं हो पाता । वह दिल्ली भागता है पर दिल्ली में लोग उसकी भारतीयता की पहचान को ही मिटाने पर उतारू हैं। कोई उसे बर्मी समझता है तो कोई चीनी। वह परेशान होकर अपनी जड़ों के पास अपने गांव लौट आता है।

दूसरी कहानी है सिबैस्टियन जुमवू द्वारा रचित 'भूमिपुत्र'। यह कहानी 'हम' और 'वे' की दूरी का अहसास दिलाने के साथ एक दूसरी कथा भी कहती है-''सिपाही जब मुझे पूछताछ के कमरे में ले गए, उस समय तक के कुछ घंटों की मुद्दत में मैं सौ मौत मरा हूंगा। मुझे कुर्सी पर बिठाया गया, फिर मुझे नारकीय यातनाएं दी गईं। मेरे गुप्तांग पर उन्होंने तार लगाए और बिजली के झटके लगाए। मैं चीख़ा, चिल्लाया, और रो पड़ा। उन्होंने मुझसे एन.एस.सी.एन. के बारे में ढेर सारे सवाल पूछे पर मैं उन्हें कुछ भी नहीं बता पाया क्योंकि मैं तो इस संगठन में कभी था ही नहीं। मैंने अपने अंतरमन में कामना की, 'कि काश ! मैं उसका सदस्य हुआ होता ताकि मैं इस समय इस यातना को रोकने की ख़ातिर कुछ तो जानकारी उगल पाता।' ...''मैंने उन्हें बताया कि मैं तो महज़ पैसे ऐंठने वाला हूँ। मैंने उन सब के नाम बताए जिनमे मैंने अपने दोस्तों के नाम भी उगल दिए। आख़िर इस जहन्नुम से निकलने के लिए मुझे कुछ करना था।''

इस प्रकार उसे अस्पताल में अधमरा बना कर छोड़ दिया गया। कितने सपने थे उसके पास जो अब सब ध्वस्त हो चुके थे। उसे राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम के तहत दर्ज कर लिया गया था। ये सब पाठक को बेचैन ही नहीं, चिन्तित भी कर देता है। किस प्रकार एक युवक को झांसा देकर अपराध की दुनिया में ले जाया जाता है और फिर उसे यातनाएँ देकर अपंग, बीमार और अपाहिज बनाकर छोड़ दिया जाता है। इस कहानी में वर्णित ब्यौरे किसी को भी इस प्रकार के अमानवीय रवैये पर बन्दूक उठाने को बाध्य कर सकते हैं। लेकिन यहाँ लेखक ने एक अत्यन्त ही करूणामय स्थिति दर्शायी है। उस युवक को अभी भी आशा है कि शायद कुछ बेहतर हो जाएगा। यह बताता है- ''मैंने सुना है कि युद्ध स्थगन की घोषणा कर दी गई है और उच्च स्तर पर बातचीत चल रही है। युद्ध विराम एक स्थायी सत्य में बदल सकता है और शांति इन पहाड़ियों में अतंतः वापस आ सकती है।'' अन्त में

नायक कहता है-

'शायद कल मुझ से बेहतर सुलूक किया जाएगा।
यही मेरी कामना, आशा और प्रार्थना है।'

शान्ति की कितनी आस और ललक है नागालैण्ड के इन आदिवासी युवकों में-यह सेना के बल पर वर्चस्व कायम करने वाली सरकारें नहीं समझ पाएंगी। कल बेहतर सुलूक की आशा वह किनसे करता है आख़िर हमसे . . . ?

पूर्वोत्तर के साहित्यकार भी आतंकवाद से उतना ही दुःखी हैं जितना बाकी देश, पर कमी है संवाद की।

मणिपुर का कवि न्गनगोम आतंकवाद से आजिज़ आकर लिखाता है-

'एक शैतानी युद्ध छिड़ गया है
हमारी धरती पर
ख़ून से लथपथ अनादरित शरीर
धसीट कर ले जाए जा रहे हैं
हमारे धान के खेतों से!'

लगता है यह आंखों देखा वर्णन है और कहीं आस-पास हमारे ही खेतों में लाशें पड़ी हैं, गोलियों चल रही हैं और हम बेबस हैं।

न्गनगोम बार-बार अपने बचपन के दिनों में लौटता है और उन दिनों के इतिहास, भूगोल को याद करता है, जो कभी अज्ञानी होते हुए भी स्वर्ग का सुख देता था। वह युद्ध छेड़ना चाहता है उन चीजों के खिलाफ, जिन्होंने पर्वतों की शान्ति को तोड़ दिया है-

'आओ हम छेड़ें युद्ध मासूम चीजों के खिलाफ
प्रकृति की संतानों से-अपनी धरती के लालों से
छुरे, डण्डे और पत्थर लेकर!
इस छोटे भूखंड में जिसे भुला दिया इतिहास ने
अलग कर दिया नौ पर्वत-श्रेणियों ने
वह कंगलेइपक बसा है अज्ञानता के स्वर्ग में
जो था कभी उत्कृष्ट
भूमि-हितकारी और पौराणिक
अब अड्डा काला-बाजारियों का
स्वर्ग-पैसे बनाने वालों का
जहाँ रूकती नहीं किसी की धड़कन
चाहे आप रिश्वत दें,
न्याय बाटंने का धंधा! (आई ऐम सारी टू सी पोएट्री इन चेन्ज)''

आपने उनके इतिहास को, देश के विकास में उनके योगदान को दर्ज नहीं किया, उसे नकारा।

सच बात तो यह है कि शेष भारत के लोगों को तो उनका इतिहास भी नहीं मालूम। हिन्दी वालों ने आपको इतिहास को भो दर्ज नहीं किया। आजादी के कई वर्ष बाद बिरसा मुण्डा का नाम लिया जाने लगा। उनके यहां तिरोत सिं हैं, संगमा हैं और फांसी पर झूल जाने वाले यू कियांड नंगबाह है। का फान नांगलेट जैसी बहादुर वीरांगना है। मिजोरम में रानी रूपलियानी हैं। १८५७ की लड़ाई से बहुत पहले १७७४ में ही जैन्तिया राजा के साथ अंग्रेजों को युद्ध लड़ना पड़ा था। १८२२ में गारो जैन्तिया पर हमले शुरु हुए तो १८२६ में जैन्तिया सरदारों ने अंग्रेजों को बाहर निकालने की योजना बना ली और राजा तिरोत सिं ने युद्ध छेड़ दिया, जो कई वर्ष चला। पर हिन्दी वालों ने इस दर्ज नहीं किया। क्यों? असम में अग्रेंजों के विरूद्ध युद्ध लड़ा गया। शंभुधन फोंग्लो उर्फ सोमोधन दिमासा इतिहास के इस गौरवशाली अध्याय के प्रणेता थे और नागालैण्ड में नागा लोगों ने तो १९ दिन तक अंग्रेजों को रोके रखा और फिर गुरिल्ला युद्ध चलता रहा पर वे झुके नहीं। मणिपुर की रानी भी अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध में कूद पड़ी।

क्यों यह सब इतिहास हमें हिन्दी में नहीं पढ़ाया जाता? आपकी शौर्य गाथाएं, आपके विद्रोह, देश की सुरक्षा के लिए आपका योगदान है। हिन्दी भाषी विद्वान अपने क्षेत्र या शेष भारत में इन गाथाओं को क्यों नहीं ले गए। क्या इनकी शौर्यगाथाएं पूरे देश की शौर्यगाथाएं नहीं हैं?

हमने अपने स्तर पर अपनी संस्था के माध्यम से पूर्वोत्तर के आदिवासी भाषाओं के साहित्य को हिन्दी में अनुवाद करके प्रकाशित किया है, खासकर पूर्वोत्तर के साहित्य को। हमने उनकी कहानियाँ, कविताएँ, संस्मरण, यात्रा-संस्मरण, उपन्यास-अंश, नाटक, लिजिन्द्रियां, बैलेड्स, लोककथाएं, लोकगीत व आत्मकथ्यों को अनुवाद करवा कर छापा है। आपको मालूम हो लगभग ६०० आदिवासी भाषाएँ-बोलियाँ हैं, जिनमें से ९० में साहित्य रचा जा रहा है। हमने कुल २७ भाषाओं-बोलियों का हिन्दी में अनुवाद करवाया है, जिसमें पूर्वोत्तर के आठों राज्यों की १५ भाषाएँ हैं, लेकिन हमारे साधन सीमित हैं। यहाँ पूर्वोत्तर में हिन्दी भाषी बुद्धिजीवियों ने जैसे कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध', मणिपुर के देवराज जी, मेघाराज की श्रुति पांडे तथा कई अन्य ने, यहाँ की बोली-भाषाएं सीख कर काम किया है-उन्हें लोग यहां भले जानते हैं पर शेष भारत से करवाते हैं?

मुख्यधारा से इनकी क्या गिला है? जरा उनके मुँह से सुनिए तो पता चलता है।

ये अपनी पहचान बनाने, जड़ें खोजने और अपनी संस्कृति, भाषा व जीवनशैली बचाने के लिए बेचैन हैं। इनकी भावनाओं की कविता नदी बन कर वह निकली है। इनके शब्द किनारे-किनारे चल रहे हैं कहानी बनकर-इनके निबंधों की धार तेज़ से तेज़तर हो रही है। जरूरत है हम अपनी अंजुरी में इतनी उदारता, इतना विस्तार भर दें कि इनकी साहित्य-धारा को हम आचमन की तरह स्वीकार कर माथे पर लगा सकें ताकि-शान्ति की सुगंध तैर जाए हवाओं में। संवाद शुरु हो जाए मानस से मानस का। मानुष से मानुष का। आदिवासी से गैर-आदिवासी का, 'हम' और 'वे' का।

इनकी मजबूरियों को जानने का प्रयास करें-इस उपेक्षाग्रस्त समाज का अकेलापन महसूसें, जिसे केवल दर्द का रिश्ता ही महसूस कर सकता है, श्रेष्ठता का दंभ, सत्ता की शक्ति नहीं। दर्द का रिश्ता कायम करने के लिए जरूरी है-प्रेम, स्नेह, परस्पर विश्वास, उदारता, फराख़दिली, क्षमा की शक्ती और नम्रता की। हिन्दी भाषा गांधी की हिन्दुस्तानी बन कर यहां आए, उस आर्यभाषा संस्कृत की श्रेष्ठता का दंभ लेकर नहीं, जिससे हिटलर भी प्रभावित था। हिटलर नहीं बुद्ध बन कर आएं।

पूर्वोत्तर के आदिवासी समाज ने हमेशा अपनी मातृभाषा, अपनी बोली को वजन देने और उसमें पढ़ने-लिखने का हठ किया। हम हिंदीवाले हिंदी का दर्द तो समझते हैं, मगर अपने दर्द को अन्य भाषाओं और बोलियों के दर्द से नहीं जोड़ते, जबकि सच यह है कि हिंदी भाषा बोलियों से ही समृद्ध हुई है। मातृभाषा के सवाल पर असम का निताई राभा दुःखी होता है, जब उसके अपने लोग असमी न बोलकर दूसरों की भाषा, जिसे वे 'लेमा' कहते हैं :

''लेमा बोलने के प्रयास में
तुमने खो दी अपनी जुबान-अपनी बोली
हमारी जुबान भी कम नहीं किसी से मिठास में।''

ऐसे तो मात्तृभाषा में पढ़ाई का मुद्दा पूरे भारत का मसला है, चाहे वह जनजातीय क्षेत्र हो या गैर-जनजातीय। क्या अंग्रेजी के मुकाबले हिन्दी का भी यही दर्द नहीं है? राष्ट्राभाषा होते भी वह देश में दूसरे नम्बर पर है। अंग्रेजी के खिलाफ़ पूर्वोत्तर का कवि भी लिखता है, जबकि बार-बार पूर्वोत्तर को पश्चिमी प्रभाव के तहत अंग्रेजी का पोषक कहा जाता है। डेज्मंड खरमाओफ्लाङ भी दुःखी है अपने अंग्रेजी ज्ञान के दंभ से।

''मेरे अंग्रेजी-ज्ञान का बोझ 'धिक्कारता' है मुझे
सवाल करता है-
यह ज्ञान जो बन गया है मकबरा
बघारता है शेखी
करता है निरंतर अट्टहास।''

भारतीय संस्कृत में भेदभाव, जातीय स्पृश्यता-अस्पृश्यता, वर्चस्ववाद, श्रेष्ठता का दंभ और अश्रेष्ठता का क्षोभ व्याप्त है। उसके खिलाफ़ मुख्यधारा में विद्रोह हो रहा है। जो बोरोजन हिन्दू संस्कृति में समायोजित हुए, उनके प्रति बोरो समाज में काफी रोष है, चूंकि हिन्दू धर्म अपनाने पर हिन्दू समाज के लोग इन्हें छोटी जाति का मानकर इनसे अलगाव ही नहीं रखते थे, बल्कि छूत-छूत भी करते थे। पूर्वोत्तर में भी बुद्धिजीवियों और साहित्यकारों ने संस्कृति पर हुए हमलों का भारी विरोध किया है। कवि खोंखा दरिया ने अपने गीत संकलन-'बोरोनी गिदु' में ऐसे हिन्दू बोरोजनों, जिन्हें वे 'अधिकारी' कहते थे, पर कटाक्ष करते हुए लिखा है :

'ओ 'अधिकारी', लाज नहीं आती तुम्हें?
क्या भूल गए हो तुम
और भूल चुका है शायद तुम्हारा भुलक्कड़ मन
तुम पर पड़ने वाली निगाहों में भरी नफरत -
क्या इस नफरत को करते हो महसूस?
लोग भागते हैं, डरकर तुमसे दूर
छूने भर से ही तुम्हारे वे हो जाएंगे अपवित्र
तुम एक तुच्छ हेय वस्तु
याद है तुम्हें
पानी छिड़का हुआ अपना बैढने का तख्ता?
वह काला बरतन
जिसमें पिलाया जाता है तुम्हें पानी?
महसूसते हो न इस जुगुप्सा को?
क्या शर्म से नहीं सिमट जाते तुम-
जब परसा जाता है भोजन सड़क किनारे।''

साम्प्रदायिक शक्तियों ने यह भ्रम मुख्यधारा के लोगों में फैलाया है कि पूर्वोत्तर पश्चिम से ज्यादा प्रभावित है। तो अगर रिश्ता कायम करके आपसदारी का विस्तार करना है इस मिथक को तोड़ना जरूरी है। भारत के बाकी भागों के लोग क्या पश्चिमोन्मुखी नहीं हैं? वे पढ़-

लिख कर विदेश नहीं जाना चाहते हैं यहाँ भी तो पहनावा विदेशी हो गया है, घर की साज-सज्जा विदेशी है। जबकि पूर्वोत्तर में तो उन्हें शिक्षित ही किया पश्चिम के लोगों ने। इसके बावजूद वे उन विदेशियों के विरूद्ध लड़ते रहे हैं मैदान में भी, साहित्य में भी, सोच में भी।

क्या मुख्यधारा से कहीं कम है इनका साहित्य? कहाँ है पश्चिम की छाप? चूंकि इन्हें रोमन लिपि के साथ पढ़ना-लिखना सिखाया गया, ईसाई धर्म में शामिल कर लिया गया, तो क्या इन पर पश्चिम का प्रभाव हो गया? उन्होंने भले ही ईसाई धर्म अपना लिया हो मगर अपनी संस्कृति बरकरार रखी है।

दिल्ली, मुम्बई या बड़े शहरों-कस्बों के लोग तो बिना ईसाई बने अमरीकन बन गए है, तो इस क्षेत्र में तो इन्हें मनुष्य का दर्जा भी उन्हीं लोगों ने दिया-इस तथ्य को हम सत्य क्यों नहीं मानना चाहते। क्या पश्चिमी साहित्य संवेदना शून्य है? साहित्य हमें संवेदनशील बनाता हैं; वह मनुष्य बनाता है, देवता नहीं।

आज देश भर में साहित्यकार, भ्रष्टाचार को लेकर चिंतित हैं। वे चिंतित हैं, अपनी जड़ों से कटने की प्रवृति को लेकर लेकिन उनसे भी अधिक चिंतित है पूर्वोत्तर का आदिवासी समाज अपनी जड़ो से कटने के कारण, अपनी संस्कृति के विकृत होने जाने कारण।

पाल लिंग्दोह की यह कविता अपनी ही युवा पीढ़ी के विचलन की जोरदार आलोचना करती है। आज तक अपनी संस्कृति की विकृतियों और विचलन पर ऐसी जोरदार कविता मेरे ध्यान में नहीं आई है-

''बिकाई है
अपनी समूची सम्पदा से लदी-फंदी धरती के साथ
यह आत्मोविस्मृत, खंडित देश,
हमारी मूल्यवान खनिज सम्पदा, वनौषधियां और
दुर्लभ बगीचे
और दरख्त और मैदान और जलाशय
ये सब और सब कुछ।
बिकाऊ है
हमारी युवा-विवाहयोग्य लड़कियाँ
इस देश जैसी ही खूबसूरत,
हमारी वरीयताः मैदानी इलाकोंके मर्द
या बेशक समंदर-पार के /बस्स थोड़े तंदुरूस्त . . .
बिकाऊ है
हमारा स्वाभिमान, हमारी मान्यताएँ. . .हमारी सामूहिक चेतना,
अतिरिक्त बोनसः ये सारी चीजें लुटाने के भाव उपलब्ध हैं।
विशेषः सम्पर्क के लिए टेलीफोन नंबर की जरूरत नहीं
हमारे एजेंट हर कहीं हैं।
गलियों में, सड़कों पर झुंड के झुंड वे देखे जा सकते हैं।''

पाल लिंगदोह की यह कविता पढ़कर लगता है, कि यह मेघालय की ही नहीं पूरे भारत की कविता है। बल्कि सत्य तो यह है कि वह विश्व में हर उस वंचित समाज की कविता है जिसे तथाकथित विकासशील देश या लोग बाजार में भंजा रहे हैं यह कविता भारत के किसी कोने में पढ़ी जाएगी तो भारत की आत्मा की आवाज़ की तरह गूंजेगी-लगेगा देश की आत्मा चीख़ रही है-रो रही है-गुस्से में है। यह है दर्द का रिश्ता!

जब मणिपुर के शिलांग में जन्मा कवि रॉविन एस. न्गनगोम कहता है-

'सुना है आजादी
उस जगह ही आती है
जहां वह चल सके
सशस्त्र जवानों के साए में।' (होमलैंड आई लेपूट)

तो क्या पूर्वोत्तर में ही ऐसी स्थिती है? क्या बिहार, दिल्ली या यू.पी. में यह नहीं हो रहा, जहाँ बच्चों का दिनदहाड़े अपहरण का फिरौती मांगी जाती है। न मिलने पर हत्या तक कर दी जाती है। या देश की राजधानी दिल्ली की नाक के तले जहां राजनेता बन्दूकों के साए में चलते हैं! . . . यह है दर्द जिसे भारत की मुख्यधारा पूर्वात्तर से साझा कर सकती है और इन्हें अपना बना कर कुछ भाईचारा बढ़ा सकती है। केवल व्यापार बढ़ाने या अपनी भाषा-संस्कृति थोपने के लिए ही लालायित मत रहिए। चूंकि यहाँ लोग ईसाई होने के बावजूद अपनी संस्कृति कायम रखे हुए हैं। वे नाचते हैं, गाते हैं। मातृसत्ता कायम है मेघालय में। विश्व का सबसे पुराना जनतंत्र भी मेघालय में ही था। माँ के चूल्हे के इर्द-गिर्द बैठकर लड़कियाँ अपने मन से विवाह कर सकती हैं-विधवा विवाह हो सकता हैं, तलाक भी हो सकते हैं, यदि पति ठीक न हो। औरतों को यह आजादी मिलना क्या पश्चिमी सभ्यता है? क्या हमारे संविधान में इन सब के लिए प्रवाधान नहीं किए गए हैं? यह प्रगति है, पश्चिम का दबदबा नहीं। अगर पश्चिम से भी कोई अच्छा विचार आया है तो उसे लेना श्रेयस्कर माना जाना चाहिए। भारत के दूसरे हिस्सों में भी दलित, पिछड़ी जातियों में तलाक की छूट पहले से ही प्रचलित है। केवल हिन्दू अभिजात संस्कृति इसकी इजाजत नहीं देती। कितने दिन ढोएंगे हम मनु को? पूर्वोत्तर में मनु नहीं

है। वहाँ औरतें न कभी सती होती थी और न ही बाल-विवाह होते थे। यहाँ औरत भी हल जोतती है। ये तो हमारे शेष भारत के लोग हैं जिन्हें इनसे आकर जिन्दगी जीने का सलीका सीखने की दरकार है। पूर्वोत्तर के घर-घर में करघे हैं, औरतें स्वावलंबी हैं, लोग कपड़ा खुद बुन कर पहनते हैं और हमारे कपड़े विदेशों के न हों तो हमारी प्रतिष्ठा में कमी आ जाती है।

ये हमारा धर्म और हमारी तरह जात-पात, छुआछात अथवा भेदभाव को नहीं मानते। उसे अपनाना भी नहीं चाहते। विडम्बना यह है कि हमने इन पर संविधान में भी 'जनजाति' शब्द थोप दिया जबकि इनकी कोई जाति ही नहीं है। ये आपके धर्म को नहीं जानते तो क्या हुआ? जो हिन्दू नहीं है क्या वह पश्चिम का है? हमारे जैसे नैन नक़्श नहीं हैं इनके पास, तो क्या इसलिए ये जंगली और असभ्य माने जाएंगे, क्या यह उचित है? हमारी जात-पात व भेदभाव भरी संस्कृति अपनाने से तो अच्छा है लोगों का असभ्य रहना, जंगली रहना। कम-से-कम वहाँ बराबरी तो है।

पूर्वोत्तर के सिक्किम का कवि देश की सीमाएँ पार कर रंग भेद की दहलीजें लांघ कर पहुँच जाता है, मनुष्य के उद्‌गम स्थल अफ्रीका में, जहाँ पहला मनुष्य जन्मा था-

''हाँ मैं समुद्रों को छोड़कर आ गया हूं
तुम्हारे नगाड़े सुनने
आदम के पैरों के निशान तलाशने
चल रहे जो समय के क्षितिज पर अफ्रिका के छोरों पर।''

यह साहित्य हमें मनुष्य के उद्‌गम से जोड़ता है। और एक छलांग में पार कर जाता है लाखों वर्ष। 'कामायनी' में जयशंकर प्रसाद ने प्रलय की कथा लिख कर एक लंबी बहस चलाई थी मनुष्य के पुनः विकास की, लेकीन सिक्किम का यह कवि लद्दाखी हमें उससे भी पीछे, पहले मनुष्य की जन्मस्थली पर ले जाता है उसकी यात्रा के निशान खोजने।

आख़िर पूर्वोत्तर के लोग वही चाहते हैं जो बाकी भारत के करोड़ों गरीब लोग चाहते हैं। इसीलिए बोधराय देववर्मा पूछते हैं हपने दोस्त से-

'क्या चाहिए मेरे दोस्त?'

उत्तर मिलता है -

'हम चाहते हैं कुशलता
अपनी, अपने परिवार की
अपनी ज़मीन की । . . .
हम चाहते हैं एक साथ मिलकर जीना -
एक कर दो हमें और हमारे कबीलों को।'

वे शिकायत करते हैं -

'मैंने मांगे थे बेहतर दिन, मुझे चाहिए था भोजन
पर बदले में मुझे मिली गालियाँ . . .'

पूर्वोत्तर के आदिवासी हिंसा नहीं चाहते, हिंसा तो उन पर लादी गई हैं। इसलिए त्रिपुरा की एक अल्पसंख्यक मॉग जनजाति की प्रतिनिधी कवयित्री निराश नहीं होती। हिंसा, प्रदूषण, युद्ध एवं विध्वंस के संकटों के बावजूद वह कहती है-

'हरियाली का हरिहर हौसला
फहराते रहता
सभ्यता की अ-दमनीय पताका।'

और कवयित्री निर्णायक भाषा में सवाल करती है-

'क्या चलने दें यूं ही बेरोकटोक
बम और बारूद का यह दुस्साहसिक खेल ? . . .'

और वह फैसलानुमा सुझाव देती है-

'समय आ गया है कि छेड़ें एक नयी जंग।'

और वह आशा करती है-

'आदमी को चाहिए खोजना एक वरदायी गगन।'

और अंत में वह कहती है-

'बदलनी होगी प्रतिरोध की भाषा!'

क्या इनका दर्द भारत के अन्य भागों में दर्द का साझीदार नहीं बन सकता? कमी हममें है, जो इनके दर्द को, इनके हक को पराया समझकर नजरअंदाज करते हैं। इसलिए हिंदी अगर इनकी भाषाओं का अनुवाद कर अपनी दुनिया में ले जाए तो दो बड़े लाभ तुरंत होगें- हिंदी वाङ्मय का निर्माण होगा और दूसरी बात कि दृष्टिकोण बदलेगा और हमारा पूर्वोत्तर के साहित्तर से दर्द का रिश्ता बनेगा।

जहाँ तक पूर्वोत्तर के आदिवासी साहित्य के सवाल है-तो अगला युग या कहूँ कि युग हाशिये के पार की जमातों का है, जिसमें आदिवासी, दलित, महिला, अल्पसंख्यक और वे सभी वंचित जमातें

हैं, जिन्हें तथाकथित मुख्यधारा-जो स्वयं ही अल्पसंख्यक हैं-ने पीछे धकेल रखा है या जिसने इन जमातों पर अपना वर्चस्व कायम कर रखा है। इनमें खासकर आदिवासी साहित्य, वह भी पूर्वोत्तर का आदिवासी साहित्य खास मायने और महत्त्व रखता है। इसके महत्त्व के कई कारण हैं। पूर्वोत्तर के आदिवासीयों और उनकी कई भाषाओं का भारत के बाकी वाशिंदों से प्राचीनतम होना भी अपने में एक महत्त्वपूर्ण कारण है। ये लोग अपनी भाषाओं के साथ आर्यों से भी पहले आए और इनकी भाषाओं का मूल स्त्रोत भारत में बोली जाने वालीं आर्यभाषाओं से भिन्न है।

पूर्वोत्तर की भाषाओं की विविधता भी इनके साहित्य के महत्त्व को बढ़ाती है। केवल भाषायी विविधता ही नहीं बल्कि उनकी भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवनशैली भी इतनी विविध व इतर है कि मैदानी इलाका उन्हें भौंचक्का होकर विस्मित-सा देशता रह जाता हैं। उनका मूल्यबोध भी अभी तक सुरक्षित हैं। पूर्वोत्तर का साहित्य केवल अपने अतीत की पीड़ा या गौरव का साहित्य ही नहीं है वह अपने वर्तमान से भी जूझ रहा है, चाहे वह सरकारी हिंसा हो या आतंकवाद का हमला। उनका साहित्य, लोगों की मानसिकता और एक-दूसरे के प्रति पूर्वाग्रह ग्रस्त दृष्टिकोण बदलने में कारगर हो सकता है। इस साहित्य को यदि हम शेष भारत में ले जाएं तो एक अदभुत संवाद कायम हो सकता है, जो 'हम' और 'वे' की दूरियां पाट सकता है। इनके साहित्य में सामूहिकता, समानता, भाईचारा, आजादी, प्रकृति से गहन लगाव व प्रेम है और है मनुष्य की अस्मिता-खासकर स्त्री-अस्मिता के प्रति विशेष आदर। हम इनसे कुछ सीख सकते हैं। इनकी इस विविधता की अनूठी छटाओं के साथ उनके मूल्यबोध को यदि हम आत्मसात कर लें तो देश में मूल्यों में आई अवनति में कुछ कमी हो सकती है।

इस साहित्य का भविष्य सुनहरा होने का कारण उनमें तेज़ गति से शिक्षा का प्रसार है। मात्र सौ-वर्ष सौवर्ष पहले प्राप्त लिपि से ही इनका लिखित साहित्य आरम्भ हुआ लेकिन पिछले पाँच हजार वर्षो का संयोजित वाचिक साहित्य, मिथक, लिजिन्द्रियां एवं अनुभव व जीवन-शैली से समृद्ध इनका वाङ्मय अब भारतीय वाङ्मय के समकक्ष आने की होड़ में भी शामिल होने की आर बढ़ रहा है।

•••

Feminism in Post Independence Sanskrit Literature

Dr. Lalita Namjoshi



Introduction

The topic itself raises eyebrows as Sanskrit being an ancient classical language the general readers and even the scholars of modern Indian literature are not aware that Sanskrit is still used by creative writers to produce traditional forms such as Mahákávyas, Campükávyas- a combination of prose and poetry and devotional poetry. There are experiments like short stories, biographies and plays that deal with contemporary themes. There are journals and periodicals catering to Sanskrit readers. In spite of such a wide range of Sanskrit Post Independence Literature it is very difficult to trace the literary trends that are very prominent in Modern Indian Languages.

Feminism is itself a very recently developed ideology. There are many forms and shades of feminism with cultural, historical, geographical and political background. Feminism is often defined as "An awareness of Women's oppression and exploitation in society, at work and within the family, and conscious action by women and men to change this situation."

Present day feminism is a struggle for the achievement of women's equality, dignity and freedom of choice to control lives and bodies of women within and outside the home.

Traditionally Sanskrit literature reflects the patriarchal attitude towards women. Women are depicted either in a romantic pattern or as main obstacles in the spiritual progress of men. In medieval India women were totally deprived of formal education and kept away from learning Sanskrit. Modern Sanskrit literature more or less follows the same path and social issues in general and feminist issues in particular find little room in the diaspora it covers. However there are a few examples that shine out because of their feminist treatment of the theme. The paper is an attempt to introduce representative examples and discuss the reasons for the very low profile of feminism in Post Independence Sanskrit Literature.

The Writings of Pandita Kshama Rao

The plight of women was depicted in a simple, lucid narrative by Pandita Kshama Rao in her short stories. Kathámuktávali a collection of fifteen short stories was published in1954.. Almost all stories have woman as the central character. At present the Kathámuktávali is not easily available and one has to depend on the secondary sources about the content of her stories. However one of the stories titled Vidhavodváhasañkaûam can be discussed to bring out the salient features of Pandita Kshama Rao, s delineation of the burning social issues related to the Indian women in her days.

Vidhavodváhasañkaûam is a story that tells us about the pitiable life of a young child widow who is heaped with atrocities typical of an orthodox family. Facing deprivation of all sorts, without any idea of retaliating the oppression by the in laws, the heroine of the story Párvatè accepts her fate, finds solace with feeding a stray dog and showering affection on her young nephew. However, her dull and empty life takes an unusual turn when a young traveler is enchanted by her beauty. He silently follows her every day to the well from where Párvatè fetches water, builds friendship with her and offers help whenever possible. Though initially apprehensive of his charms and afraid of social censure, soon Párvatè is won over by the sincerity of the young man's feelings and love develops between the two. As there is no chance that place where she stays and the community to which she belongs would accept such an alliance they take a bold decision to go to Pune, supposedly the most progressive city. One fine day she manages to elope with her lover but both of them are shocked to find that no priest is willing to marry them as their castes are different. Theirs effort to have a legal

court marriage are also foiled. In spite of revolting against the social system, Párvatè has a staunch belief in her Dharma and would not accept the idea of changing Dharma for convenience to facilitate marriage. The proposal by her lover of living together without marriage in some remote place where no one would recognize them is unimaginable for Párvatè. Her heart pines for love, happiness and a family. But Párvatè cannot discard the norms if morality and Dharma so far valued by her and keep an illicit relationship with her lover. Interestingly, the lover who had entered into the darkened life of Párvatè as a ray of hope is genuine and stands by her in these trying times. Now with all hopes shattered Párvatè decides to go back to her in laws place. There is no need to say what is in store for her. A widow running away with a stranger !She is denied entry in the house, even the child whom she loved and tended like her own is pulled away from her, she doesn't have even a glimpse of that child. She is now a stigma, a blot on the family name. Completely devastated she has no where to go, no one to turn to. Her lover had known what would happen when she goes back. Without her knowledge he follows her and when she is thrown out of her house he extends a helping hand. Once again Párvatè leaves the small, backward town and reaches Pune; not to seek help to solemnize her relation with her lover, but to find her own identity, to get education, to become self sufficient, of course with the support from her lover.

The story of Párvatè is designed with the technique of a short story, there are twists and turns in the brief plot. Though one expects it end with a conventional happy union of the couple, it ends on a very different note as the bond between the lovers remains strong, they maintain a respectable distance. Neither union nor separation, the story offers a third, a rather novel option at the ending that can be seen as a feminist ending. The author has etched the character of Párvatè very sympathetically. Her beauty and charm have been brought out vividly. The reader is carried away by the turn of events and wishes that the sañkaûa - the difficulties that pose hindrance in the udváha of a vidhavá – marriage of a widow should cease and the heroine should get what she deserves.

During last 60 years after the story has been written, a lot of has changed regarding the issue of widow remarriage. However even in the wake of awareness, spread of education widowhood is still seen as great misfortune and it may still require some amount of courage for a widow to find love and to take decisions about her personal life. The plight of widows in many parts of India still remains one of the issues that the feminists are concerned about. If we take into consideration this, the significance of what Pandita Kshama Rao wrote is immense.

The next case of Feminism in Modern Sanskrit literature can be seen in plays written by Pandit Prabhakar Bhatkhande. His themes are based on contemporary issues. These plays cover a wide range including a thriller, a science fiction, a comedy and so on. He has experimented with technique and form. Almost all the plays have been enacted and have won awards for the presentation. The most striking of these for our purpose is a one act play entitled Lalanákhyánam which has all female characters.

It presents all prototypes of modern Indian woman— a senior lady named Yamuná who is a mother and a mother-in-law, a young selfish woman Mohinè who has deserted her husband, Vásantè , a widow of a soldier, the heroine of the play and Tejaswinè, a young firebrand soldier.

The play opens with a nándè and a prayer offered to Mother Goddess invoking her to bestow strength and valour. Vásantè has gone to attend a programme in which her dead husband is being honored posthumously for his bravery. Her mother in law and sister in law both do not approve the way Vásantè carries herself, She has continued to wear those ornaments that she used to wear when her husband was alive. She is friendly with a friend of her deceased husband. She refuses to pay her obeisance to Jagadambá. Yamuná and Mohinè push Vásantè into a bitter altercation. Her belongings, even the medal and the cheque given in honour of her husband's martyrdom is taken away from her. The lure of money she has makes Mohinè to plot remarriage of Vásantè with her second brother. Vásantè is outraged at this thought and about to leave the house. She is not worried about her livelihood as she herself says that she is well educated and she can support herself by getting some job. However she is in a delicate stage of life as she is in

early stages of pregnancy. Then enters Tejaswinè, a messenger from armed forces with the happy news that Vijay, Vásantè's husband is alive, and is under going treatment in the military hospital. Yamuná and Mohinè change their colour like a chameleon. She reprimands them for their unsympathetic behaviour. She says, "My mother in law, a widow herself hurt me by calling me misfortunate. A woman becomes wife, mother, daughter or sister due to the relations she has but her individuality as a person should be never forgotten. Women turn enemies of other women and snatch away their rights. Indeed some men do treat women like an inanimate object, but is it necessary that women also do the same? " Yamuná a has change of heart and Mohinè's eyes are opened by the example of Vásantè. Everybody realizes that women should treat other women with respect to put an end to the story of injustice to which women are often subjected. The Bharatavákya , the concluding prayer is offered," May the women become self sufficient, empowered. They may protect themselves and respected by people. May they have love for each other. Love and compassion are their weapons, may they prevail the world with their power."

No doubt this is a very mild, a conservative brand of feminism. However, in view of the confines and limitations of modern Sanskrit literature, even this version of feminism is noteworthy as it has a wider influence being presented through a performing art. This kind of feminism is popular amongst majority of women as it is rooted in the value system of Indian society.

Some observations

The main fact why feminism is not very prominently apparent in Post Independence Sanskrit Literature can be understood if we take into account the purpose and motives of modern Sanskrit literature. Almost all writers are committed to refute the charge that Sanskrit is a dead language. With the rise of regional languages and the advent of the foreign languages, mainly of English the glory of Sanskrit faded out. The modern Sanskrit writers had to struggle for survival and revival of the language so probably they could not experiment much with the form and the content of their compositions. They resorted to the trodden track of composing Mahákávyas based on the Ramayana, the Mahabharata or the sectarian theistic themes. The tradition of hero worship is also maintained by them. They tried to associate Sanskrit with the spirit of nationalism.

These motives have resulted in limitations of modern Sanskrit literature. Till date, there is neither a single novel nor a biography in Modern Sanskrit literature. These are the main forms of literature that have the potential of expressing a thought powerfully.

In the history of feminism, it is the women authors who first raised their pen against the women's subordination, exploitation, oppression, within the home and at the work place and society at large. In case of Sanskrit, women were not given access to the language and hence the number of women authors is very less. Majority of the male writers prefer the traditional role model of a devoted, sacrifying mother figure remaining in background for their depiction of women. The women in their writings are divinized and not individuals in flesh and blood. Now the things are gradually changing, and many women authors are writing in Sanskrit, but they have yet to make their mark to compete with women authors of other languages.

●●●

मराठी नाट्यसृष्टीतील स्त्री-प्रतिमा

डॉ. पुष्पलता राजापुरे-तापस



विविध भाषीय भारतीय रंगभूमीला एक प्रदिर्घ व समृद्ध परंपरा आहे. तिच्या समृद्धतेत मराठी रंगभूमीने मोलाची भर घातलेली आहे. कठपुतळ्यांच्या खेळापासून प्रारंभित झालेला मराठी रंगखेळ आपल्या विविधतेने आज संपन्न झालेला आहे. समाजास चिंतनास प्रवृत्त करणे, थकल्या-भागलेल्यांचे रंजन करणे, समाजास सभोवतालच्या घटितांसाठी अंतर्मुख व्हायला लावणे यांसारख्या अनेक प्रयोजनांनी प्रेरित होऊन मराठी रंगभूमीने मोलाचे कार्य केले आहे. विशेष महत्त्वाची गोष्ट म्हणजे विष्णू अनंत भावे यांनी ज्या नाटकाने मराठी नाटकाची मुहूर्तमेढ रोवली ते नाटक सीतेच्या स्वयंवराशी निगडित होते. 'सीतास्वयंवरा'चा मूळ स्त्रोत रामायण हे महाकाव्य अथवा लोकमानसातील सीतास्वयंवरकथा असे कोणतेही असले तरी, मराठी रंगभूमीवरील या पहिल्या नाटकाने 'स्त्री' पात्राला केंद्रस्थानी ठेवून नाटक गुंफले. या नाटकाने काव्यगत / कथागत स्त्रीपात्राच्या जीवनातील विशिष्टानुभवाला नाट्यरूपात सादर केले. त्याचबरोबर स्वयंवर मंडपात रामाच्या दर्शनाने तिच्या मनात त्याच्याविषयी निर्माण झालेली अभिलाषा आणि रावणाच्या कृत्यांनी निर्माण झालेली भीती यांचे एक अनोखे दर्शन या नाटकाने घडविले. इथे महत्त्वाचा मुद्दा असा की मराठी रंगभूमीने काळाच्या वेगवगळ्या टप्प्यांवर कधी 'स्त्री' पात्राला केंद्रस्थानी ठेवून अथवा कधी केंद्राबाहेर ठेवून स्त्रीविषयक जीवनसंदर्भांना नाट्यरूप दिले आहे. या प्रकारचा नाट्यप्रवास काही नाटककारांनी जाणीवपूर्वक केला तर काही नाटककारांच्या हातून नकळत काही गोष्टी घडल्या. विष्णू अनंत भावे यांनी पहिले स्त्रीकेंद्री नाटक सादर केलेले असले तरी त्याच्या आश्रयाने त्यांना समकालीनांशी वैचारिक पातळीवर काही संवाद साधायचा आहे, असे जाणवत नाही. असेच 'संगीत सौभद्र', 'मानापमान' आदी नाटकांविषयी म्हणता येईल. 'संगीत सौभद्र' हे नाटक सुभद्रेच्या लग्नाविषयी असले, तरी नाट्यगत 'लीला' कृष्णाच्या म्हणजे पुरुषपात्राच्या भोवती गुंफलेल्या आहेत. ज्या संगीत रंगभूमीने मराठी रसिक प्रेक्षकांचे रंजन केले त्या रंगभूमीने जाणिवेच्या पातळीवर अथवा नेणिवेच्या पातळीवरही स्त्री-विषयक प्रश्न सादरीकरणासाठी निवडलेले दिसत नाहीत. (अंशत: अपवाद 'संगीत शारदा' या नाटकाचा करायला हवा.)

मो. ग. रांगणेकरांच्या 'कुलवधू' या नाटकाने प्रथमच स्त्रीचे काही तत्कालीन प्रश्न मांडण्याचा प्रयत्न केला. एकोणिसाव्या शतकाच्या स्त्रीसुधारणाविषयक चळवळीच्या पार्श्वभूमीचा विचार करता सिनेमात, कलेच्या क्षेत्रात नव्यानेच काम करू लागलेली स्त्री आणि तिचे प्रश्न हे 'कुलवधू' या नाटकाचे मुख्य सूत्र असलेले दिसते. कुटुंब आर्थिक अडचणीत असतानाच भानुमती आर्थिक गरजेपोटी सिनेमासारख्या कलाक्षेत्रात पहिले पाऊल टाकते. जोपर्यंत तिला मिळणारा पगार हा तिच्या नवऱ्यापेक्षा कमी असतो, तोपर्यंत त्या दोघांच्या नातेसंबंधामध्ये दुराग्रह व भावनिक दुरावा निर्माण होत नाही. परंतु भानुमती नावारूपाला येऊ लागते, तिची आर्थिक मिळकत वाढू लागते. किंबहुना एका टप्प्यावर तिचे आर्थिक उत्पन्न हीच घराची मिळकत होते तेव्हा तिच्या नवऱ्याचे वर्तन बदलते. त्याच्या वर्तनातील बदलामुळेच भानुमतीच्या मानसिक स्थिरतेला तडा जातो. वैभवाकडे वाटचाल करणाऱ्या तिच्या कलाप्रवासाला दु:खाची झळ पोहोचू लागते.

'कलावंत स्त्री आणि विशिष्ट परिस्थितीमुळे व पुरुषाच्या विशिष्ट मानसिकतेमुळे निर्माण झालेल्या प्रश्नांशी स्त्रीचा संघर्ष' हा या नाटकाचा गाभा असला आणि हे नाटक स्त्रीकेंद्री असले तरी या नाटकातील स्त्री - प्रतिमा ज्या मूल्यांचा, ज्या जीवनधर्माचा व वर्तनधर्माचा पुरस्कार करते ती मूल्ये, तो जीवनधर्म व तो वर्तनधर्म हे सारे पूर्णपणे पारंपरिक स्वरूपाचेच आहे. आपण सिनेमातील कलावंत असलो तरी आपण पतीच्या व सासरच्या मंडळींच्या अर्ध्या वचनात राहायला तयार आहोत हीच तिची नाट्यगत ओळख मनावर ठसते. कारण नवरा व सासर यांना गमावून काही मिळवावे ही भानुमती या स्त्री पात्राची मानसिकता नाही. प्रस्तुत नाटकात स्त्री - पात्राची मानसिकता अशा प्रकारची कल्पिल्यामुळेच वेळप्रसंगी नवऱ्याचे घर सोडून बाहेर पडलेली भानुमती मानसिकदृष्ट्या दुबळी वाटते. या उलट दारूड्या नवऱ्याच्या पायापाशी स्वर्ग आहे असे म्हणणारी सिंधू पतिव्रताधर्माचे कथित 'असाधारण' मूल्य स्वीकारीत असली, नवऱ्याच्या दारूडेपणाची झळ तिच्या संसाराला पोहोचत असली तरी तिचे मन दुबळे नाही. म्हणूनच पतिव्रताधर्मातील अत्युच्च पण पारंपरिक मूल्यापर्यंत ती प्रवास करते. विशेष म्हणजे तिचा हा प्रवास तसा एकाकीही असतो. तळिरामच्या आग्रहाखातर सुधाकर तिचे माहेर तोडून टाकतो असा संदर्भ नाटकात आहे. खरं तर, सिंधूचा जो

स्वभावधर्म नाटकभर आपल्याला जाणवतो, तो पाहता सिंधूने आपणहून तो संबंध तोडलाच असता कारण त्यातच तिच्या पतिव्रता असण्याचं तेज उजळून निघणार होते. तिचा हा प्रवासच तिच्या पतीला तिच्या जगण्यातून 'उणे' करून टाकतो. पतिव्रताधर्माला आव्हान व नकार देण्याचा तो काळ नव्हता म्हणून नवऱ्याचे घर सोडायला भाग पडलेली गीता ही पतिव्रताधर्म सांभाळते आणि सिंधूला त्यासाठी मदतही करते. या दोघीही परिस्थितीशरण असूनही स्वत:चं एकाकी वेगळेपणा व स्त्रियांना परस्परांविषयी वाटणारा सहानुभाव जपून जगतात, हे मुद्दाम नोंदवायला हवे.

स्त्रियांनी मनात व वर्तनात परस्परांविषयी सहानुभाव, भागिनीभाव बाळगायला व पाळायला हवा असे आधुनिक काळात म्हटले जाते. त्या विचाराचा प्रत्यय 'संगीत एकच प्याला' मधील सिंधू व गीता या दोन स्त्री-पात्रांच्या वर्तनातून येत राहतो. मात्र स्त्रीचे विशेष प्रश्न मांडणाऱ्या 'कुलवधू' सारख्या नाटकातील भानुमती आपले सारे सत्त्व व स्वत्व आपल्या शोषकांसाठीच गमावू पाहते. हे असे घडते कारण नाटककाराने नाटकासाठी निवडलेला विषय तत्कालीन स्त्री प्रश्नाशी संबंध राखणारा आहे. परंतु तो कलावंत स्त्रीचा कुटुंबगत संघर्ष एवढ्यापुरताच मर्यादित राहतो. रा. ग. गडकऱ्यांच्या सिंधूनंतर व विशेषत: गीतानंतर मो. ग. रांगणेकरांची आलेली भानुमती, कालबाह्य मूल्ये कोणती? स्वीकार्य मूल्ये कोणती? अशा प्रश्नांना साधा स्पर्शही करीत नाही. असे घडते कारण त्यामागील नाटककाराची मूल्यदृष्टी, मूल्ययुक्त पुरोगामी आहे असे वाटत नाही.

मो. ग. रांगणेकरांची 'कुलवधू' जशी नवऱ्याच्या घरातून बाहेर पडते, तशी आचार्य अत्रे यांची 'घराबाहेर' मधील निर्मला घर सोडून बाहेर पडते. नवऱ्याचा बावळटपणा आणि सासऱ्याचा संशयी व हेकट स्वभाव यामुळे तिला घर सोडावे लागते. अत्र्यांच्या 'घराबाहेर' मधील निर्मलाचा वनवास म्हणजे जणू रामायणातील सीतेच्या वनवासाची पुन:प्रतीती आहे. भानुमती आणि निर्मला ही स्त्रीपात्रे घर सोडून बाहेर पडत असली तरी ही स्त्रीपात्रे पुन्हा घरी परततात. खरे तर त्या घर सोडून बाहेर पडताना त्यांच्या कुटुंबाची जी परिस्थिती होती, त्या परिस्थितीत व कुटुंबगत माणसांच्या मानसिकतेत फारसा बदल झालेला नव्हता. उदा. भानुमतीच्या नवऱ्याचे विचारपरिवर्तन झालेले नसते, अथवा निर्मलाच्या सासऱ्याचा, नवऱ्याचा व दिराचा मूळ स्वभावधर्म व वर्तनधर्म बदलण्याची शक्यता नसते. मग या दोघी मागे का येतात? यापैकी रत्ना मुलासाठी परत येते असा संदर्भ नाटकात येतो. भानुमतीजवळ माघारी येण्यासाठी असे कोणतेही सबळ कारण नाही. या दोघी प्राप्त परिस्थितीकडे वळतात. कारण या दोघी विवाहित स्त्रिया आहेत. त्या घराबाहेर पडल्याने कुटुंब व्यवस्थेचे काय होईल असा प्रश्न त्यांच्या जन्मदात्यांना भेडसावत नसेलच असे नाही. 'उद्याचा संसार' मध्ये घर सर्वार्थाने मोडकळीला आलेल्या करूणाला अत्रे आत्महत्या करायला लावतात हाही मुद्दा येथे लक्षात घ्यायला हवा. या तिन्ही स्त्री-पात्रांचे शोषण कालबाह्य मूल्यव्यवस्था व स्त्रीभोवती निर्माण केलेले भावनीक वलय यांमुळे होते, हे लक्षात घ्यायला हवे. निर्मला ज्या कारणासाठी घरी परत येते ते कारण आजही धगधगीत जिवंत आहे हे खरे आहे. याचा अर्थ असा करता येईल की, अत्रे तत्कालीन समाजस्थितीचे शब्दरूप चित्रण करीत होते. पण त्यांना त्या चित्रणापलीकडे जाऊन निर्मलाच्या जगण्यातील संघर्षचित्र व्यक्त करता आले नाही. असे करण्यामागे नाटककारापाशी विशिष्ट जीवनदृष्टी असावी असे वाटत नाही. म्हणजे असे की नाट्यगत पात्रे परात्म जीवन जगत असली तरी नाटककाराला त्यांच्या परात्मतेचे भान असते. या उलट गो. ब. देवलांनी अत्र्यांच्याही आधीच्या काळात विशेष परिस्थितीत बोहल्यावर चढलेल्या शारदेचे लग्न लोभी म्हाताऱ्याशी (भुजंगनाथ) लावले नाही, तर शारदेला अनुरूप अशा तरुणाशी (कोदंड) तिचा विवाह घडवून आणला. त्यासाठी त्यांनी शारदेचे लग्न झाले की नाही याची 'तात्त्विक चर्चा' नाटकात घडवून आणली. त्या चर्चेच्या आधारे तत्कालीन सामाजिक प्रश्नांना तात्त्विक बैठकही प्राप्त करून दिली. त्या काळी नाटक पाहायला आलेला प्रेक्षक हा जणू त्या तात्त्विक चर्चेला विरोध करणारा अथवा पाठिंबा देणारा समाजघटकच होता. देवलांची शारदा तत्कालीन लोभी व भ्रष्ट सामाजिक व्यवस्थेचा 'बळी' ठरत होती. परंतु नाटककार नाटकात तसे घडू देत नाही. कारण त्याला केवळ स्वकालीन सामाजिक स्थितीगतीचे दर्शन समकालीनांसाठी व पुढीलांसाठी घडवायचे नाही, तर स्वकालीनांना वर्तमानकालीन प्रश्नांकडे डोळसपणे पाहायला व अंतर्मुख व्हायला भाग पाडायचे असावे. 'नाट्यगत वास्तवात इतके सारे करू पाहणाऱ्या देवलांनी शारदेचे लग्न सगोत्र विवाह करू नये या कारणासाठी मोडले असे दाखवावे याचे आश्चर्य वाटते.' तरीही नंतरच्या काळातील भानुमती, करूणा, निर्मला या स्त्री-पात्रांपेक्षा आणि त्यांच्या भोवतालच्या सर्वस्तरीय स्थितिगतीपेक्षा देवलांची शारदा व त्यातील सामाजिक स्तर दीर्घकाळ आपल्या स्मरणात राहू शकला आहे असे म्हणावेसे वाटते.

मामा वरेरकरांच्या 'भूमिकन्या सीता' या नाटकात 'सीता', 'उर्मिला' आणि 'दासी' ही तीन स्त्री-पात्रे महत्त्वाची पात्रे आहेत. या तिघींपैकी सीता व दासी वासंती यांच्या चारित्र्याविषयी प्रश्न निर्माण झालेले आहेत आणि त्याविषयी त्यांना शासनही करण्यात आलेले आहे. सीतेला कोणत्या प्रकारचे शासन करण्यात येणार आहे ते उर्मिलाने सीतेला सांगितलेले आहे. परंतु सीता त्याविषयी उघडपणे तक्रार करीत नाही. होणारे शासन स्वीकारावे असे ती मानते. कारण

त्यामुळेच तिचे निष्कलंकत्त्व सिद्ध होईल. अन्यथा पुढील पिढ्या आपल्याच चारित्र्याविषयी संशय व्यक्त करतील असे तिला वाटते. उर्मिलाला मात्र हे सारे पटत नाही. कोणत्याही अन्यायाविरूद्ध वेळीच भूमिका घेतली नाही तर कालांतराने अन्याय सोसणेच योग्य वाटू लागते. त्यामुळे व्यक्ती आपले स्वत्व हरवून बसते या प्रकारची तिची भूमिका असते. तर दासी कोणत्याही प्रकारच्या अन्यायाविरूद्ध भूमिका घेतली पाहिजे असे मानते. मामा वरेरकरांच्या नाटकातील या स्त्री - प्रतिमांपैकी सीता एकीकडे स्वकालीन मूल्यव्यवस्थेला महत्त्व देते आणि त्याचवेळी आपले वेगळेपण सिद्ध करते. उर्मिला हे पात्र काळापलीकडे जाऊन विचार करू पाहते. मामा वरेरकर यांची मार्क्सवादी विचारसरणी उर्मिला या स्त्रीपात्राच्या माध्यमातून प्रामुख्याने साकारली आहे. याचा अर्थ सीता बुरसटलेल्या विचारांनी प्रभावित आहे असे मात्र नाही. म्हणूनच या स्त्री - प्रतिमा मराठी नाट्यविश्वात अविस्मरणीय ठरतात.

इ. स. १९५० ते १९६० या दशकाच्या आगेमागे व मध्यावर अनेक नाटककार मराठी रंगभूमीवर कार्यशील झाले. वि. वा. शिरवाडकर, वसंत कानेटकर, बाळ कोल्हटकर, जयवंत दळवी, विजय तेंडुलकर, रत्नाकर मतकरी इ. प्रभृतींची नाटके रंगभूमीवर येऊ लागली. या नाटककारांची अनुक्रमे 'नटसम्राट', 'मला काही सांगायचंय', 'दिवा जळू दे सारी रात', 'वाहतो ही दुर्वांची जुडी', 'पुरुष', 'पर्याय', 'शांतता! कोर्ट चालू आहे', 'कमला', 'अग्निदिव्य' या गाजलेल्या नाटकांमधील स्त्री-प्रतिमांचा आपण विचार करू लागलो की, त्यातून जे संदर्भ जाणवू लागतात, त्यांचा इथे विचार करता येईल.

शिरवाडकरांचे 'नटसम्राट' हे आप्पासाहेब बेलवलकरांभोवती गुंफलेले नाटक असले तरी त्यातील कावेरी, शारदा आणि नलू ही स्त्री-पात्रे स्ववैशिष्ट्यांनी आपल्या लक्षात राहातात. ही तिन्ही स्त्री-पात्रे भिन्न - भिन्न स्वभावाची आहेत. त्यांची स्वभावभिन्नताच आप्पासाहेबांच्या वर्तनधर्माला वेगवेगळे परिमाण प्राप्त करून देते. कावेरीमुळे (पत्नी) त्यांचे जगणे समृद्ध होते. शारदा व नलू (सून व मुलगी) यांच्यामुळे त्यांच्या जगण्याला अस्थिरता व वणवण येते. या प्रकारची त्यांची स्वभावभिन्नता मुख्य पात्राचे जगणे काहीसे दुःखकारक करते. पण या तीनही स्त्री-पात्रांचा मूळ मनोधर्म एकच आहे. तो मनोधर्म म्हणजे पतिव्रता धर्म होय. त्या तिघींवरही पारंपरिक संस्कृतीचा व पारंपरिक जगण्याच्या पद्धतीचा प्रभाव आहे. ज्याप्रमाणे कावेरी व्यवसायाने नट असलेल्या आपल्या पतीचा जीवनधर्म जाणते, त्याच्या उत्कर्षासाठी बिनतक्रार साऱ्या हालअपेष्टा, आर्थिक चढउतार सोसते, असे सोसण्याची झळ पतीला अथवा मुलांना लागू देत नाही त्याप्रमाणेच जगण्याचा अट्टाहास शारदा व नलूचा आहे. त्यात दोघींचेही पती श्रीमंत आहेत. ही चारही पात्रे (मुलगी, सून व त्यांचे पती) बदलत्या काळातील आहेत. पण स्त्री-स्वातंत्र्य, स्त्रीची स्वत्व जाणण्याची आणि साकारण्याची धडपड या आधुनिक जाणिवेशी त्यांचा संबंध नाही. आधुनिक काळातील पति-पत्नी व अपत्य अशा चौकोनी कुटुंबाची कल्पना त्यांनी स्वीकारलेली आहे. त्यामुळे त्या दोघींच्या सामान्य व सर्वसाधारण मतांना त्यांच्या कुटुंबात महत्त्व येते. खरे तर या दोघीही कावेरीप्रमाणे (अनुक्रमे सासू व आई) स्वत्वशून्य जीवन जगतात. नवऱ्याला प्रमोशन मिळावे म्हणून त्याच्याबरोबर पार्ट्यांना जाणारी, त्याच्या साहेबाची आणि त्याच्या पत्नीची मर्जी राखणारी आणि त्यासाठी धडपडणारी निलू हे स्त्री-पात्र स्त्रीच्या स्वत्वशून्यतेचाच प्रत्यय देते. या पार्श्वभूमीवर तिची धावपळ, मुलांना आपल्यापासून दूर ठेवणे हे सारे निरर्थकच वाटते. वर म्हटल्याप्रमाणे तिचे जीवनध्येय तिच्या आईच्या जीवनध्येयाशीच नाते सांगणारे आहे हे लक्षात घेतले तर सून व मुलगी यांच्या संदर्भात कावेरीने वेळोवेळी घेतलेल्या भूमिका तिच्या स्वत्वशून्यतेचाच प्रत्यय देतात. तिचा पतिव्रताधर्म क्षणकाल उजळून निघत असला तरी तो प्रभावी ठरत नाही. कारण त्या दोघी (शारदा व निलू) स्वभावाने फारशा संवेदनशील उदार, कनवाळू अशा नसल्या तरी तिच्यासारख्या पतिव्रता असतातच. याचा अर्थ असा, शिरवाडकरांनी आपल्या नाटकात तीन स्त्री-प्रतिमा रंगविल्या पण त्या तिघीही स्वत्वशून्य असलेल्या दाखवल्या आहेत. ज्या भगिनीभावाचा प्रत्यय गडकरी सिंधू व गीता या स्त्री-पात्रांच्या माध्यमातून देऊ शकले तो प्रत्यय 'नटसम्राट' मधील स्त्री-पात्रांच्या माध्यमातून येत नाही. इतकेच नाही तर 'कुलवधू' मधील बनूताईही हळूहळू बदलते आणि ती आपल्या मातेला मतपरिवर्तनास प्रवृत्त करू पाहाते. स्त्री-पात्रांचा असा प्रवास नंतरच्या नाटकांमध्ये असू नये, ही खेदाचीच गोष्ट आहे असे म्हणायला हवे.

इथे उदाहरणादाखल कानेटकरांचे 'मला काही सांगायचंय!' या नाटकाकडे वळलो, तर हे नाटक स्त्री-पात्राभोवती गुंफले आहे असे वाटते. त्यात यशोधरेचे वेगळे जीवन साकारण्याचा प्रयत्नही केलेला आहे. पण 'नमनाला घडाभर तेल' या न्यायाने देवकीनंदन (सासरा), राहूल (पती), बाप्पाजी (आश्रमचालक) या पुरुषांभोवती, त्यांच्या स्ववैशिष्ट्यांभोवती नाटक इतके घुमत राहते की, यशोधरेचा अत्यंत गंभीर असा मानसिक संघर्ष त्यात गुदमरून जातो. नाटकाला गंभीर कलाटणी देण्यासाठीच केवळ तिच्या संघर्षाचा एक साधन म्हणून उपयोग केला जातो. लग्नापूर्वी बाप्पाजीच्या वासनेचा 'बळी' ठरलेली यशोधरा ती घुसमट घेऊन जगते. पण तिच्या त्या घुसमटीपासून सारेच अनभिज्ञ व अपरिचित राहतात. या नाटकातही स्त्रीच्या जीवनसंदर्भात ज्या मूल्यांचा पाठपुरावा केला जातो, ती फार विचारांती स्वीकारलेली मूल्ये आहेत

असे नाही! शिवाय यशोधरेचा मानसिक संघर्ष कळल्यानंतर राहूल तिचा स्वीकार करतो. पण त्या स्वीकारामागे विचारांची पक्की बैठक आहे, असे नाही. प्रसिद्ध वकील व न्यायमूर्ती यांच्या घरातील राहूल बुद्धीने सामान्य आहे. त्यामुळे तो झिडकारला गेला आहे. मातेविना पोरक्या व एकाकी जगणाऱ्या राहूलचा विशिष्ट निर्णय हा भावनेवर आधारलेला असाच आहे. भावनेला विचारांची बैठक नसणे आणि भावना दीर्घकाळ टिकून राहण्याची शक्यता कमी असणे याचे भान त्यापाठीमागील नाटककाराला असलेले जाणवत नाही. विशेष म्हणजे यशोधरेला 'काही' महत्त्वाचे सांगायचे असते आणि नाटकभर तिला काही सांगण्याची संधीच नाटककार देत नाही. त्यामुळेच यशोधरेचा संघर्ष वगळता नाटकात अन्य बाबींनाच फार महत्त्व येते. परिणामी मूल्यांची धरसोडच नाट्यगत वास्तवात अधिक होताना दिसते.

'वेड्याचं घर उन्हात' पासून सुरू झालेला कानेटकरांचा नाट्यप्रवास दीर्घ आहे. प्रस्तुतचे नाटक हा त्या नाट्य - प्रवासातील मधला टप्पा आहे. परंतु या टप्प्यावर आल्यानंतरही कानेटकरांनी अपारंपरिक व मूल्यगर्भ आधुनिक जीवन जाणिवेचा नाट्यगत समाज वास्तवात फारसा स्वीकार केला नाही. त्यामुळेच त्यांच्या नाटकातील स्त्री-पात्रे काही मानसिक संघर्ष जगत, भोगत असल्या तरी आधुनिक काळाने निर्माण केलेल्या प्रश्नांना त्या भिडत नाहीत. म्हणूनच त्यांच्या नाटकातील स्त्री-पात्रे एक पूरक पात्र म्हणून प्रकटतात. त्यांना त्यांची अशी विशेष ओळख असलेली जाणवत नाही. कानेटकरांनी आपल्या नाट्यप्रवासाच्या उत्तरार्धात 'पंखांना ओढ पावलांची' हे नाटक लिहिले, (हे नाटक शांता निसळ यांच्या कादंबरीवर आधारलेले होते.) ज्याच्या शीर्षकातही पारंपरिक, जुनाट मूल्यांचाच आग्रह दिसतो.

बाळ कोल्हटकरांनी जी स्त्री - पात्रे मराठी रंगभूमीवर उभी केली ती स्त्री-पात्रे प्रामुख्याने भारतीय संस्कृतीचे आंधळेपणाने जतन करणारी दिसतात. त्यांना त्यांच्या सभोवतालच्या विश्वविषयी कोणतेच प्रश्न पडत नाहीत. यात कुटुंब, कुटुंबगत माणसे, त्यांचे स्वभाव हे सारे काही अभिप्रेत आहेच. त्या जगतात, त्या त्याग करतात. त्यागाची किंमत मोजतात. पण हे सारे आपण का करीत आहोत किंवा का करायचे हे प्रश्न त्यांच्या असज्ञ मनातही उभे नाहीत. हा नाटककार भारतीय पारंपरिक कालबाह्य मूल्यांचा स्वीकार इतक्या आत्मियतेने करतो की सुजाण व सदसद्विवेकबुद्धीला स्मरून विचार करणारा रसिकही त्या भावनेच्या भरात क्षणकाल वाहून जाऊ शकतो. भारतीय व पर्यायाने बहुसंख्य मराठी पुरुषाला त्याग, समर्पण आदी मूल्यभावांचे अतोनात आकर्षण व प्रेम वाटत आले आहे. अशा पुरुषप्रेक्षकवर्गाला कोल्हटकारांनी रंगविलेली स्त्री दिलासा देणारी वाटली असणे सहज शक्य आहे. परंतु अशा स्त्री-प्रतिमांमुळे स्त्रीच्या आंतरिक, भावनिक व क्वचित वैचारिक संघर्षापासून मराठी रसिक अनभिज्ञ राहिलेला आहे. असे घडले कारण आधुनिक काळातील विशिष्ट प्रकारच्या स्त्री-प्रतिमा निर्माण करणाऱ्या नाटककाराची जीवनदृष्टी नवी वैचारिक आव्हाने - आवाहने पेलू शकलेली नाही. नाटककार आधुनिक काळातला पण त्याने स्वीकार्य मानलेली जीवनदृष्टी व मूल्यदृष्टी मध्ययुगीन काळातील असे इथे घडलेले दिसते.

इथेच एक गोष्ट नोंदवावीशी वाटते ती अशी - रा. ग. गडकऱ्यांनी नाट्यप्रवासाच्या उत्तरार्धात सिंधू व गीता या परस्परपूरक स्त्री-प्रतिमा रंगविल्या तर नाट्यप्रवासाच्या आरंभीच्या काळात पाश्चात्य विद्येने बहकलेल्या तरुणी अशा स्त्री-प्रतिमाही रंगविल्या. विशेष म्हणजे 'भावबंधन' नाटकातील शिकलेले तरुणही तसेच वागतात. परंतु त्यापाठीमागे पारंपरिक मूल्यांचा अतिरेकी ध्यास जाणवत नाही. फार तर रहस्यमय नाट्यरचना करण्यासाठी व घनश्यामाचा सूडाचा प्रवास अधोरेखित करण्यासाठी ते स्त्रीपात्रांचा अशा पद्धतीने उपयोग करून घेतात, असे म्हणावेसे वाटते. याउलट कोल्हटकर मात्र बदलत्या जीवनात कालबाह्य मूल्यांनाच सादर करू पाहतात हे गंभीर आहे.

एकीकडे लहानांपासून थोरांचे आणि बुद्धिवंतांपासून (!) सामान्यांचे रंजन करू पाहणाऱ्या स्त्री-प्रतिमा मराठी रंगभूमीवर वावरत होत्या. तेव्हा त्याच्याच आगेमागे जयवंत दळवी नाट्यलेखन करीत होते. त्यांनी रंगविलेल्या स्त्री-प्रतिमा रंगभूमीवर अवतरू लागल्या होत्या. दळवींनी साकारलेली 'महासागर' मधील सुमा, 'सावित्री' मधील सावित्री उर्फ साऊ, 'पुरुष'मधील अंबा, 'लग्न' मधील प्रमुख स्त्रीपात्र ही स्त्रीपात्रे आपल्या स्मरणात लगेचच जागी होतात. दळवी परस्परविरोधी मूल्यभाव जपणाऱ्या स्त्री-प्रतिमा एकाच नाटकात रंगवितात. त्यांतील एक स्त्रीरूप जुन्याच व गतकालातील त्याग, समर्पण, पतिव्रताधर्म आदी वर्तनाला महत्त्व देत असते तर दुसरी स्त्री-प्रतिमा खूपदा भावनेच्या भरात आपली संस्कृती, आपला संस्कार विसरून वेगळ जगू पाहते. पण त्या जगण्यात ती यशस्वी होत नाही. अयशस्वी झालेल्या तिला अखेरीस आत्महत्या करावी लागते. दळवी निर्मित या स्त्री-प्रतिमा एखाद्या स्त्रीमनात जागे होणारे नवे भान आणि त्याची परिणती अशा पद्धतीने साकारतात की, स्त्रीचे मानसिक / शारीरिक स्वातंत्र्य ही एक बिनबुडाची तकलादू बाब आहे, असा विचार वाचक-प्रक्षेकांच्या मनावर उमटावा. अशा स्त्री-प्रतिमांमधून स्त्री-स्वातंत्र्य या संकल्पनेविरूद्ध एक दहशतवाद वाचक-प्रेक्षकांच्या मनावर ठसावा म्हणून प्रयत्न दिसतो. पारंपरिक मूल्यांना कवटाळून वाट्याचे जगणं जगणाऱ्या व आयुष्य कुरकुरत पण बिनबोभाटपणे जगणाऱ्या स्त्री-प्रतिमा यशस्वी झाल्याचे ते दाखवितात.

'पुरुष' मधील अंबेचा अपवाद केला तर दळवींनी रंगविलेल्या स्त्रीपात्रांचे नमुने वरील प्रकारचेच आहेत. अंबू अन्यायाला वाचा फोडू पाहाते, मात्र त्यात ती सर्वस्वी अपयशी ठरते. अंबूचे अपयशी ठरणे वास्तवाला धरूनच आहे. पण त्या वास्तवाला कठोरपणे भिडण्यापेक्षा दळवींची प्रतिभा सवर्णीय व दलित या दोनही वर्गांतील पुरुष स्त्रीकडे एकाच मूल्यदृष्टीतून पाहात असतो. स्त्रीचे शोषण, स्त्रीवर होणारा सामाजिक व मानसिक अन्याय आणि स्त्रीयोनीचे पावित्र्य, या गोष्टींना दोन्हींकडील 'पुरुष' सारखेच महत्त्व देतो. यांसारख्या विचारांच्या प्रतिपादनात गुंतते. परिणामी धीट व अन्यायाविरूद्ध लढणाऱ्या अंबूपेक्षा तिच्या दलित प्रियकराच्या वर्तनाची चर्चा नाटकात व नाटकाबाहेर अधिक होत राहिलेली दिसते. 'लग्न' मधील 'आई' नवऱ्याचा भूतकाळ विसरते. तो विसरण्यामागे काही वैचारिक मंथन घडले आहे असे नाही. तर तिला कॅन्सर झाला आहे. ती काही काळाची सोबती आहे. आयुष्याच्या उत्तरार्धात जो रोगग्रस्ततेचा काळ उरला आहे तो काळ तिला सहजपणाने जगायचा आहे. जिचे 'लग्न' पुरेसे अपयशी ठरले आहे ती ही माता आपल्या मुलीचे अपयशी ठरू पाहणारे 'लग्न' मोडू नये अशी इच्छा मनी बाळगून जगते. मोडू पाहाणारे लग्न नव्याने जुळावे, उभारावे म्हणून तसे स्वप्न पाहाते. 'लग्न' मधील ही मुख्य स्त्री-प्रतिमा लक्षात घेतली तर नाटककार म्हणून दळवींनी अवलंबिलेली मूल्ये आधुनिक काळातील संघर्षात तावून सुलाखून निघालेली नाहीत. नाटककार आधुनिक काळातील असला तरी स्त्री-पात्रांची मनोभूमी साकारताना तो जुनाट, कालबाह्य मूल्यांचाच अवलंब करतो.

'पर्याय' मध्ये स्त्रीशोषणाचे भडक चित्रण करताना दळवी मुलीच्या बापाची अनाठायी नम्रता, मुलींचे अपरिमित सहनशील असणे अधोरेखित करतानाच खुद्द स्त्रीच स्त्रीचे शोषण करीत आहे, हा सर्वसामान्यांना सोयीचा वाटणारा सिद्धांत 'सासू' या पात्रचित्रणाच्या मुळाशी ठेवतात. खरे तर मातेच्या पदराखालून बाहेर न आलेला मुलगा हाही एक स्तर नकळतपणे 'पर्याय' ला प्राप्त झालेला होता.

मराठी रंगभूमी व रसिक कृतज्ञतेने दीर्घकाळ लक्षात ठेवील असे नायक चिं. त्र्यं. खानोलकरांनी रंगभूमीवर आणले. उदा. 'एक शून्य बाजीराव' मधील बाजीराव, 'अवध्य' मधील गंगाधर, 'सं. अभोगी' मधील विदूषक इ. पण सर्व रसिकांचे लक्ष वेधून घेईल अशा एकाही स्त्रीपात्राला त्यांनी नाट्यरूप दिले नाही. त्यांनी निर्मिलेली गौरी (एक शून्य बाजीराव), कांचन, नीला (अवध्य), गंगनगंधा, मीनाक्ष, (सं. अभोगी) ही स्त्री पात्रे काहीसे वेगळे आयुष्य जगतात. उदा. रंगभूमीवरील प्रेमापोटी व कलेच्या आसक्तीपोटी गौरी श्रीमंत इनामदारांची मागणी नाकारते. कांचन नटी म्हणून यशस्वी होण्यासाठी समाजाला मान्य नसलेल्या गोष्टी करते. नीला शरीरसुखासाठी घर सोडून येते. इ. पण या साऱ्या स्त्रिया पारंपरिकच मूल्ये मानतात. यातील प्रत्येकीला 'हक्का' चा नवरा, हक्काचे मूल, घर असे सारे काही हवे आहे आणि ते मिळविण्यासाठी काय वाटेल ते करण्याची त्यांची तयारी आहे. पारंपरिक मूल्यांच्या पार्श्वभूमीवर खानोलकर स्त्रीची स्खलनशील प्रतिमा रंगवितात. कारण नाट्यगत स्त्रीरूपाकडे पाहण्याची त्यांची दृष्टी ही पारंपरिकच स्वरूपाची आहे.

रंगभूमीवरील या असंख्य स्त्रीपात्रांकडून जेव्हा आपण विजय तेंडुलकरांनी रंगविलेल्या स्त्रीपात्रांकडे येतो, तेव्हा काही निरीक्षणे नोंदविता येतात. सर्वसाधारणपणे तेंडुलकर नायकाभोवती नाट्यसूत्राची गुंफण करतात असे दिसते. (अपवाद : शांतता! कोर्ट चालू आहे) दुसरे म्हणजे त्यांच्या नाटकात किमान दोन स्त्रीपात्रे असतात. मुख्य नाट्यसूत्राचे सारे संदर्भ या स्त्रीपात्रांपाशी येतात.

सभोवतालच्या स्त्रीच्या स्थितिगतीची कणव वाटून संवेदनशील, कनवाळू पुरूषांची स्त्री - सुधारणेचा प्रारंभ करणारी चळवळ एकोणिसाव्या शतकात उभारली होती. त्या चळवळीची व पुरुषांना स्त्री - शोषणाविषयी वाटणाऱ्या अनुकंपेची आठवण व्हावी अशा पद्धतीने दळवी जेव्हा 'पर्याय' मधील तिसऱ्या सुनेची बंडखोर (!) प्रतिमा रंगवितात तेव्हा त्यामागील त्यांची जीवनदृष्टी पारंपरिकच असते, असे म्हणायला हवे.

रत्नाकर मतकरींनी आपल्या 'अग्निदिव्य' या नाटकात हुंडा समस्या अधिक गंभीर, समंजस व कलात्मरीत्या हाताळली आहे. या नाटकात मृदुला, तिची आई, तिची सासू या तीन स्त्री-प्रतिमा आहेत. मृदुला ही शोषित, पीडित व अन्यायग्रस्त स्त्रीपात्र आहे. सदर नाटकातील सारे प्रसंग मृदुलाच्या माहेरी म्हणजे जणू मातापित्यांच्या साक्षीने साकारतात. तिच्या सासरी जे - जे घडले, जे तिने भोगले तेच पुन्हा सादर केले जाते. या प्रकारे नाट्यप्रसंगाची मांडणी केल्यामुळे सामाजिक चालीरीती, त्या चालीरीती जोपासणारी, वाढविणारी माणसे आणि त्यांची मानसिकता प्रकर्षाने अधोरेखित होते. या नाटकातील शोषित मृदुला सायन्सची पदवीधर आहे. पण सामाजिक जीवनात वाट्याला आलेल्या समस्यांवर मात करण्याचे मानसिक सामर्थ्य तिच्यात नाही. कारण पुरुषप्रधान समाजव्यवस्थेत मुलगी ज्या मूल्यांचे जतन करून वाढविली जाते, त्या मूल्यांच्या प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष संस्कारांमुळे ती मानसिकदृष्ट्या दुबळी राहाते. तसेच सुशिक्षित होण्यासाठी ती जे शिकते ते शिक्षण तिला स्वत:ची मानसिक शक्ती वाढविण्यास पूरक ठरत नाही. परिणामी आधुनिक काळातही स्त्री दुबळी, मनोबल हरविलेली ठरत आहे. पुरुषप्रधान समाजरचनेने निर्माण केलेल्या संकेतांचा ती बळी ठरत

आहे. हे संकेत निर्माण करण्यात, आंधळेपणाने ते जोपासण्यात प्रत्येक मुलीचा भाऊ, तिचे वडील साहाय्यभूत घटक ठरत असतातच. या विदारक व विपरीत सामाजिक वस्तुस्थितीची जाणीव मृदुला या स्त्री प्रतिमेतून होते तर मुलीच्या सुखदुःखाविषयी काही बोलण्याचा, ठरविण्याचा कोणताच अधिकार नसलेली, तसा अधिकार असायला हवा याची जाणीव नसलेली मातृप्रतिमा म्हणून आई या स्त्रीपात्राचा आणि त्यातून अर्थपूर्ण संदर्भवलय निर्माण होते. तेंडुलकरनिर्मित स्त्रीपात्रे सामाजिक, राजकीय, धार्मिक आदी वेगवेगळ्या संस्थाव्यवस्थांच्या व यमनियमांच्या बळी आहेत. या साऱ्या संस्थांची मुख्य सूत्रे पुरुषांच्या हातात आहेत. नियमही त्यांनीच बनविलेले आहेत. हे नियम बनविताना स्त्री हा सामाजिक घटक सर्वस्वी आपल्या कह्यात राहील, आपण केंद्र आणि ती परीघ अशी व्यवस्था त्याने केली आहे. विशेष म्हणजे हा व्यूह अशा पद्धतीने रचला आहे की, या व्यूहात आपली फसवणूक, कुचंबणा व शोषण होत आहे, हे मुद्दाम विचार केल्याशिवाय स्त्रीला कळू नये. बहुदा स्त्रीला हे कळतच नाही, जिला हे 'सत्य' कळते तिचा प्रवास यातनागर्भ होतो. तिच्या जागे होण्यात तिच्या वेदनेचा जन्म होतो. एकीमुळे दुसरी 'जागी' होते. अशी 'जागृत' झालेली एखादी ओळखीच्या आणि सलगीच्या मृतवत जगण्यातून क्षणकाल सुटू पाहाते, (सरिता - 'कमला') कधी एखादी जागी होऊनही जाग आल्याचे हेतुतः स्वीकारत नाही. (सुमित्रा - 'घरटे अमुचे छान') काहींना काही जाणवतच नाही. उलट काही वेगळे जगू पाहणाऱ्या स्त्रीचा अथवा जीवनाच्या रेट्यात वेगळे जगावे लागलेल्या स्त्रीचा बळी घेणाऱ्या कारस्थानात ती उत्साहाने सामील होते. (पाहिजे जातीचे, सखाराम बाईंडर, शांतता! कोर्ट चालू आहे) तेंडुलकर परस्परविरोधी संबंधांवर आधारलेल्या स्त्री-प्रतिमा निर्माण करतात. पण त्या स्त्रीपात्रांनी स्वीकारलेली / अवलंबलेली जीवनमूल्ये सारखीच असतात. हे त्यांनी जवळजवळ सर्वच नाटकांतून यशस्वीरीत्या दाखवून दिले आहे.

उदा. 'श्रीमंत' मधील अविवाहित गर्भवती मथुरा आणि तिची आई, तिची वहिनी या स्त्रीपात्रांनी अंगिकारलेली जीवनमूल्ये सारखीच आहेत. मथुरेचे विवाहापूर्वी गरोदर असणे हा केवळ अपघात आणि फसवणूक आहे. त्यापाठीमागे त्या स्त्रीपात्राची कोणतीही विशेष 'भूमिका' नाही. असेच 'शांतता! कोर्ट चालू आहे' मधील बेणारेविषयी म्हणता येईल. बेणारेची आजची स्थितिगती ही सामाजिक परिस्थितीचा आणि विशिष्ट मूल्यप्रणालीचा परिपाक आहे. 'कमला' मधील कमलाला तर आपण पुन्हा - पुन्हा विकले का जात आहोत हा प्रश्नही पडत नाही. खरं तर तिला असा प्रश्न पडू नये असा संस्कारच तिच्यावर पुरुषप्रधान व्यवस्थेने केलेला आहे. ती त्या संस्काराची वाहक असते. ती जे जगते ते तिचे भोग असतात. स्त्री- शोषणाच्या प्रगट अप्रगट अशा अनेक तऱ्हा तेंडुलकरांच्या नाटकात आपल्या प्रत्ययाचा विषय होतात. त्याचबरोबर त्या शोषणामागील व्यवस्थेचे, तिच्या एकांगी नीतिनियमांचे भयावह दर्शनही आपल्याला घडते.

तेंडुलकरांची जवळजवळ सारी स्त्री-पात्रे परात्म, मृतवत आयुष्य जगतात. ही पात्रे प्रगट अप्रगट शोषणाचे बळी असतात. त्यांना त्यांचेच दुःख विशाल होऊन जाणवत नाही. परंतु त्यामागील नाटककाराचे जीवनभान व जीवनदृष्टी प्रगल्भ असल्याने ही सारे स्त्रीपात्रे स्त्री-दुःखांचे, स्त्रीच्या यातनांचे विदारक व शोकगर्भ दर्शन घडवितात. त्या वाचकप्रेक्षकांना अंतर्मुख व्हायला भाग पाडतात.

एकीकडे या प्रकारच्या स्त्री-प्रतिमा मराठी रंगभूमीवर साकारत होत्या तर दुसरीकडे पारंपरिक जीवनमूल्ये उराशी कवटाळून त्यासाठी जगणाऱ्या स्त्री - प्रतिमांचे दर्शन घडविले जात होते. महेश एलकुंचवारांनी इतर संदर्भात महत्त्वाची ठरणारी नाटके लिहिली असली, तरी स्त्रीपात्रांकडे पाहण्याचा त्यांचा दृष्टिकोन पारंपरिकच असलेला दिसतो. 'वासनाकांड' मध्ये लाली आपल्या भावाशी संबंध ठेवते हे खरे आहे. या कृतीमुळे ती प्रस्थापित रंगभूमीवरील स्त्रीपात्रांपेक्षा वेगळी ठरते हेही खरे आहे. पण भावाशी संबंध ठेवणे हा निर्णय तिचा नाही. तसेच या प्रकारच्या संबंधांमुळे निर्माण झालेल्या संघर्षात ती गावकऱ्यांच्या कोपाला घाबरून शरण जाते. विशिष्ट परिस्थितीत एखाद्या व्यक्तीला अखेरीस समाजबंधनांना शरण जावे लागते, हा सिद्धांत स्वीकारून 'वासनाकांड' मधील स्त्रीपात्राचा विचार केला तरी हे स्त्रीपात्र वैचारिकतेशी आपले नाते सांगत नाही. त्यामुळे तिने भोगलेल्या वासनेचा उन्माद हा एका पुरुषाची लहर ठरते. अर्थात अशा रचनेमुळेच पुरुषप्रधान व्यवस्था स्त्रीला (अगदी बहिणीलाही) आपल्या वासनेचा बळी कसा ठरविते याचे स्वच्छ दर्शन घडते. तसेच त्यामागील नाटककाराची गंभीर जीवनदृष्टीही कळते.

हा नाटककार आपल्या वेगवेगळ्या नाटकांत स्त्रीच्या मानसिकतेचाही गंभीरपणे शोध घेऊ पाहात असल्याचे जाणवते. असे असले तरी या नाटककाराची स्त्रीकडे, तिच्या भावनिक, मानसिक व कौटुंबिक विश्वाकडे पाहण्याची दृष्टी ही पारंपरिक आहे. उदाहरणादाखल - 'वाडा चिरेबंदी' आणि 'युगांत' मधील स्त्री प्रतिमांचा विचार करता येईल. या नाटकांमध्ये परस्परविरोधी मूल्यदृष्टी असलेल्या स्त्री-प्रतिमा आहेत. मात्र यांतील मुख्य स्त्रीपांत्रांचा (दादी, आई, वहिनी, अंजली, नंदिनी) नाट्यगत जीवनप्रवास हा परंपरेशी जिव्हाळ्याचे नाते सांगणारा आहे. अंजली प्रारंभी सासरच्या मंडळींविषयी अनुत्सुक असली तरी त्यापाठीमागे कोकणस्थ व देशस्थ अशा विभागीय भेदाची दृष्टी आहे. परंतु हळूहळू ती हा भेद मागे टाकते आणि ती अधिकाधिक सासरची होते. या उलट नंदिनी ही

देशपांड्यांच्या चौथ्या पिढीतील स्त्री (सून) असून ती पारंपरिक मूल्यभाव आणि 'स्व' अस्तित्व यांचे वेगळेपण, या दोन्ही गोष्टी शिताफीने जुळविते. नंदिनीच्या अशा प्रतिमेत पारंपरिकता व वैयक्तिक मतप्रणाली यांचे सम्यक मिश्रण असलेले दिसते. परंतु एलकुंचवारांच्या नाटकांतील एकूण स्त्री-प्रतिमा या पारंपरिक मूल्यांशीच जिव्हाळ्याचे नाते सांगताना दिसतात.

महेश एलकुंचवारांनंतरचा महत्त्वाचा नाटककार म्हणून सतीश आळेकरांचा उल्लेख करायला हवा. आळेकरांनी जाणीवपूर्वक स्त्रीकेंद्री नाटक लिहिलेले आढळत नाही. पात्रांचे मानसिक विश्व आणि त्यामागील सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण या सूत्रांभोवती त्यांनी आपली नाट्यकथानके गुंफली आहेत. 'महानिर्वाण' या नाटकात त्यांनी मराठी रंगभूमीवर अपरिचित आणि त्याचबरोबर विपरीत वाटेल अशी स्त्री-प्रतिमा साकारली. ही स्त्री-प्रतिमा (रमा) पत्नी आणि माता अशा दोन्ही रूपांत अपरिचिततेचा व विपरीततेचा अनुभव देते. या स्त्रीपात्राने रंगभूमीवर प्रथमच आपल्या मनातील कामभावाचा स्पष्टास्पष्टपणे उच्चार केलेला आहे. तिचे दैनंदिन वर्तन हे समाजमान्य रूढ संदर्भांशी व वर्तनाशी निगडित आहे. मात्र तिचे मानसिक विश्व या वर्तनाच्या कोषात राहूनही वेगळे काही सांगू, बोलू पाहते. खरे तर काही काळ तिचे जगणे दुभंगलेले आहे. परंतु ती तसे भासू देत नाही. ती जगण्याची एक वेगळी तऱ्हा पडताळून पाहते. ही तऱ्हा समाजमान्य सांस्कृतिक संकेतांना धक्का पोहोचविणारी आहे, हे तिला चांगले कळते. किंबहुना हे कळल्यानंतरच ती सांस्कृतिक संकेतांना नकार देण्याचे अटळपणे टाळते आणि परिस्थितीशरणता स्वीकारते. स्त्री-मनातील अशाा आंदोलनांची सूक्ष्म जार मराठी रंगभूमीवर अपवादानेच आढळते.

आळेकरांनंतर अनेक नाटककारांनी नाट्यलेखन केलेले आहे. त्या सर्व नाटककारांचा येथे उल्लेख करणे शक्य नाही. मात्र प्रशांत दळवी (चारचौघी), चेतन दातार (सावल्या), जयंत पवार (माझं घर), अशोक पाटोळे (आई रिटायर होतेय!) आणि राजीव नाईक (साठेचं काय करायचं) या नाटककारांचा आणि त्यांच्या नाटकांचा विचार थोडक्यात करणार आहे. हे सर्व नाटककार उत्तर आधुनिक काळातील नाटककार आहेत. त्यांच्या अवतीभवती स्थित्यंतरांना अनुकूल अशा परिवर्तनवादी चळवळी नव्या जोमाने कार्यशील झालेल्या होत्या. प्रत्येक चळवळीत नवे नेतृत्व प्रकट होत होते. या चळवळींमध्ये स्त्रीवादी चळवळही आहे. अशा काळात लेखन करणारे हे नाटककार आहेत हे मुद्दाम नोंदवायला हवे. दळवींचे अलीकडे गाजलेले एक नाटक म्हणजे 'चारचौघी' होय. हे नाटक चार स्त्रीपात्रांभोवती गुंफलेले आहे. नाट्यगत आशयाच्या दृष्टीने पाहता ही चारही स्त्रीपात्रे महत्त्वाची आहेत. यातील प्रत्येकीचा एक स्वतंत्र प्रवास आहे. त्याचबरोबर त्या चौघी 'स्त्रीचे स्वातंत्र्य' या सूत्राने एकमेकींशी जोडलेल्या आहेत. नाटकात 'आई' हे मुख्य पात्र आहे. कारण या पात्राने एके काळी घेतलेल्या विशिष्ट निर्णयामुळे त्या तिघींच्या जीवनात काही अटीतटीचे प्रश्न निर्माण झालेले आहेत आणि प्रत्येकीला निर्वाणीचा निर्णय घेण्याची वेळ आली आहे. मोठ्या मुलीला परस्त्रीशी संबंध ठेवणाऱ्या नवऱ्याला स्वीकारायचे की नाही याविषयीचा निर्णय घ्यायचा आहे. मधल्या मुलीला काहीच न करता पारंपारिक मूल्यांनी स्वतःला जखडून घेतलेल्या नवऱ्याबरोबरच संसार पुढे रेटत न्यायचा की असा संसार मोडून टाकायचा, हे ठरवायचे आहे आणि तिसरीला विशिष्ट समस्या उलगडण्यासाठी दोन्ही मित्रांना तिच्याशी लग्न करण्यसाठी तयार करायचे आहे. शिवाय तिची ही अशी भूमिका कुटुंबीयांनाही समजून द्यायची आहे. या तिघीही आपली भूमिका आपापल्या निर्णय प्रसंगी इतर पात्रांना समजावून सांगतात. पण एकमेकींना काही समजून सांगण्यात त्यांना यश येत नाही. यातील पहिल्या दोघी परिस्थितीशरणता स्वीकारतात आणि तिसरीचा निर्णय अधांतरीच राहतो. या तिन्ही स्त्रीपात्रांसमोर जे प्रश्न उभे राहिले आहेत ते प्रश्न विशिष्ट समजरचनेने निर्माण केलेले आहेत. प्रस्तुत नाटकातील स्त्रीपात्रे काही वेगळे जगत असल्या तरी आई व सर्वात लहान मुलगी यांचा अपवाद करता उरलेल्या दोघी समाजाने अंगिकारलेल्या संकेतांना पूर्णपणे स्वीकारणाऱ्या आहेत. आई तिच्या तारुण्यात वेगळ्या पद्धतीने जगण्याचा निर्णय घेते आणि त्या निर्णयाचे सारे चांगले-वाईट परिणाम भोगते. परंतु म्हणून तिला व्यक्तीने समाजजीवनात स्व-तंत्र होण्याचा गर्भितार्थ उमेगला आहे, असे नाही. या प्रकारच्या स्त्रीपात्रांची निर्मिती करणारा नाटककार एक अपरिचित विषय एवढ्या मर्यादित दृष्टीनेच या पात्रांकडे पाहतो. या नाटकातील स्त्रीपात्रांप्रमाणेच असतो. त्यात मूल्यांची, जाणिवेची 'खोली' असलेली जाणवत नाही. मात्र दळवींची 'चाहूल' मधील नायिका (नायकही) सभोवतालच्या भ्रष्ट जीवनस्थितींचे, उथळ जगण्याचे व अविवेकी मूल्यसरणीचे अधिक गंभीर व विदारक दर्शन घडविते.

चेतन दातारांचे 'सावल्या' हे नाटक फक्त स्त्रीपात्रांना केंद्रस्थानी ठेवून लिहिले गेलेले आहे. या नाटकातील पाठोपाठच्या तिघी बहिणी, त्यांनी आजी, त्यांची मरण पावलेली आई, त्यांची शेजारीण आणि तिघींची मैत्रिणी इतकी स्त्रीपात्रे आहेत. या स्त्रीपात्रांचा सर्वसाधारण सामाजिक दर्जा कनिष्ठ मध्यमवर्गीय आहे. ज्या मुलींभोवती 'सावल्या' चे कथानक विणले जाते, त्या मुली जातीने ब्राह्मण आहेत. पण त्यांनी ब्राह्मणांना वर्तनधर्म जवळजवळ सांडलेला आहे. पण तो जाणीवपूर्वक नाही. त्यांच्या कुटुंबात असे काही विपरीत घडले पित्याचे घर तिचे असत नाही. लग्नानंतर कोणत्याही कारणामुळे अथवा कुणाहीमुळे (स्त्री किंवा पुरुष) तिला घटस्फोट मिळाला

किंवा घटस्फोट घ्यावा लागला तर सासरचे घर तिचे राहत नाही. 'जन्माला आलेली प्रत्येक मुलगी एखाद्या घरातच वाढते, एखाद्या घरात सून म्हणून जाते. एका घराकडून दुसऱ्या घराकडे तिचा प्रवास होतो पण तिला तिचे घर असत नाही.' या सूत्राभोवती हे नाटक गुंफलेले आहे. मात्र प्रत्यक्षात त्यातील नायिका, तिची सासू, तिची नणंद ही स्त्रीपात्रे हा विचार व त्यामागील गांभीर्य समजून उमजून जगत आहेत किंवा तसे आयुष्याचे निर्णय घेत आहेत असे होत नाही. या स्त्रीपात्रांच्या नाट्यगत कृतिउक्ती पाहता मानवी संबंधांतील जिव्हाळा, सौहार्द त्या तिघींना कळला आहे, हे म्हणणे धाडसाचे ठरेल. सगळे नाटक भावनांच्या क्षोभावर उभे राहते. या नाटकातील सासूच्या वैशिष्ट्यपूर्ण भूतकाळ व तिच्या नणंदेचा बिनबुडाचा विचार नाटकांतून वजा केला तर नाटकात काय उरेल, असा प्रश्न मनाशी येतो. तसेच या नाटकात पुरुषप्रधान व्यवस्थेत पुरुषाच्या लहरीमुळे भरडल्या गेलेल्या नायिकेची वैचारिक पातळी अतिशय सामान्य अशीच राहते. नाटककार गंभीर विषयाची निवड करतो, पण त्या विषयाचा मांडणी सामान्य व उथळ पातळीवरच होते असे खेदाने म्हणावेसे वाटते. कारण स्त्री-पात्रे सभोवतालच्या समाजात जे संथगतीने पण निश्चितपणे बदलत आहे, अशा मूल्यबदलांविषयी अनभिज्ञच आहेत. असे घडते कारण नाटककारही त्याकडे पुरेशा डोळसपणे पाहत नाही.

'आई रिटायर होतेय!' या नाटकार मातृरूपातील स्त्री केव्हाही कौटुंबिक जबाबदारीतून मुक्त होऊ शकत नाही, किंबहुना बदलत्या काळात नोकरी करू लागलेल्या स्त्रिया वयोवृद्ध सासूला अथवा मातेला (स्त्रीला) खऱ्या अर्थाने समजून घेऊ शकत नाहीत, नोकरीच्या निमित्ताने घराबाहेर पडणाऱ्या स्त्रिया संधिसाधू होत आहेत, त्या घरातील वयस्कर स्त्रीचा सहानुभावाने विचार करु शकत नाहीत, अशा वास्तवस्थितीला प्रकट करण्याचे कार्य सदर नाटक करते. परंतु त्या पलीकडे जाऊन या नाटकात वैचारिक पातळीवरील संघर्ष स्त्रीपात्रांमधून साकारत नाही. इथेही भावनिक पातळीचे दर्शन अग्रसेर राहते. दुसरे असे की, या नाटकातील स्त्रीपात्रे मर्मग्राही तर दूरच पण सामान्य माणसाला सुचणाराही विचार करीत नाहीत.

भारतीय समाजव्यवस्थेने स्त्रियांच्या वाट्याला ज्या प्रकारची कामे दिली त्या कामांचा दर्जा निकृष्ट व बिनमहत्त्वाचा मानला. समाजात हा विचार हजारो वर्षे झिरपत आजही दृढ झालेला दिसतो. अवतीभोवतीच्या वास्तवाने काहीशी आहे की, त्यामुळे त्यांचे कुटुंबगत भावविश्व पूर्णपणे उद्ध्वस्त झाले आहे, प्राप्त परिस्थितीशी त्या जुळवून घेतात. त्या जुळवून घेण्याच्या पद्धतीतच त्यांना त्यांचा विशिष्ट वर्तनधर्म सांडावा लागतो. याचा अर्थ त्यांचे 'आज' चे विशिष्ट जगणे ही त्यांची प्राप्त परिस्थिती आहे आणि या परिस्थिवर पुरुषाच्या भोगवादी जगण्याची, भोगवादाला बळी पडण्याच्या स्त्रीच्या दुर्बलतेची, वृत्तीची मोहर उमटलेली आहे. इथल्या स्त्रियांच्या मनातही मोह निर्माण होतात. त्या मोहाप्रमाणे त्या जगतात. पण अखेरीस त्यांना त्याचे विपरित परिणाम भोगावे लागतात. या परिणामांचा एक म्हणजे त्यांचे मानसिक जगणेही विचलित होते. इतकेच नाही तर त्यांचे मनासारखे जगण्याबोलण्याचे सारे मार्ग एकमुखाने बंद होतात. त्या तिघींचे हे जगणे दुःखदायक व वेदनादायक आहे. विशिष्ट मूल्यांचा स्वीकार करणाऱ्या पुरुषप्रधान संस्कृतीमुळे, काही पुरुषांच्या भोगवादी दृष्टीमुळे आणि त्यांच्या नाकर्तेपणामुळे काही स्त्रियांना सरळ, साधे, सामन्य अपेक्षांचे आयुष्यही सुखाने व विवंचनेशिवाय जगता येत नाही. जे जगणे त्यांच्या जीवनाचा अपरिहार्य भाग होते, ते जगणेही सुसह्य करून जगण्यासारखी स्थिती राहात नाही. जगण्याचे पर्याय निवडण्याचे त्यांचे स्वातंत्र्य संकुचित केले जाते. खरे तर हे स्वातंत्र्य इतके संकुचित केले जाते की, ते त्यांना जवळ जवळ नसतेच अशा विदारक अनुभवापर्यंत त्या तिघी व आजी स्त्रीपात्रांचे नाट्यगत जीवन आपल्याला घेऊन येते.

स्त्री-मतस्वातंत्र्य, स्त्रीचे प्रश्न, त्यामागील सामाजिक स्थितिगती यांचे नेमके भान जाणिवेच्या पातळीवर नाटककाराला पूर्णत्वाने नसले तरी त्याने निर्मिलेली ही स्त्रीपात्रे स्त्रीच्या घुसमटण्याचे चित्रण सामर्थ्याने करतात आणि वाचक-प्रेक्षकांना अंतर्मुख व्हायला भाग पाडतात.

यानंतर जयंत पवारांच्या अलीकडे गाजत अलसेल्या 'माझं घर' चा विचार करता येईल. एकून मानवाच्या सामाजिक विश्वात स्त्रीला खूपदा दुय्यम स्थान मिळालेले आहे. पण असे घडलेले नाही हे भासवून देण्याकरिता आपण गार्गी, मैत्रेयी, सावित्रीबाई फुले, ताराबाई शिंदे अशा काही जुन्या नव्या स्त्रियांची उदाहरणे सतत देत असतो. खरं तर ही उदाहरणे म्हणजे स्वप्रयत्नाने स्वतःचा सामाजिक दर्जा उंचावण्याचा प्रयत्न करणाऱ्या स्त्रियांची आहेत. अशा स्त्रिया संख्येने कमीच असतात आणि त्यांना समाजात स्वस्थान मिळविण्यासाठी जे जगलेले व भोगलेले असते, त्याचा कालपरत्वे समाजाला विसर पडलेला असतो. आपल्या समाजरचनेत व कुटुंबरचनेत स्त्रीला हक्काचे घर नाही. लग्न होऊन नवऱ्याचे घरी जायचे असते, अशा रीतिविवाजामुळे तिच्या मातेचे(?) सभान झालेली स्त्री या वास्तवाकडे कसे पाहत आहे, त्यातून तिला काही जाणवते आहे का? आणि जाणवत असल्यास काय जाणवते, त्या जाणवण्याचे स्वरूप काय? तिला तिच्या 'साधनरूपा' ची पुसटशी तरी जाणीव होते का? असे कितीतरी साधे सोपे प्रश्न नाटकात नाट्यरूप घेऊ शकले असते; परंतु 'आई रिटायर होयेय' मध्ये असे घडत नाही. रिटायर होण्यासाठी आईच्या मनात कोणताही वैचारिक संघर्ष उभा राहत नाही, विशेष असे की, ही सारे स्त्रीपात्रे पारंपारिक मूल्यांचा,

जीवनाचा व दृष्टीचा पुरस्कार करणारी आहेत आणि त्यावर त्यांची निष्ठाही आहे.

राजीव नाईक यांचे 'साठेचं काय करायचं' हे नाटक दोन पात्रांभोवती रचलेले आहे. पुरुषपात्र आणि स्त्रीपात्र अशी पात्रांची निवड आहे. पुरुषपात्र नाट्यकथेच्या केंद्रस्थानी आहे आणि स्त्रीपात्र त्याला पूरक ठरेल असे आहे. हे स्त्रीपात्र म्हणजे सलमा होय. प्रस्तुत नाटक प्रामुख्याने दोनच पात्रांच्या जीवनातील घटनांशी निगडित आहे. त्यामुळे येथे स्त्रीपात्राला महत्त्व येते. तरीही या स्त्रीपात्राचे नाट्यगत कार्य काय, असा प्रश्न उपस्थित करता येईल. सलमा धर्माने मुस्लिम असून तिने हिंदू मुलाशी लग्न केले आहे. पण नाटकात हा मुद्दा महत्त्वाचा नाही. या नाटकात वेगवेगळ्या क्षेत्रातील गटबाजी, गटबाजीचे राजकारण आणि त्याचा त्या गटबाजीत असणाऱ्यांवर व थेटपणे नसणाऱ्यांवर होणारा अंतर्बाह्य परिणाम याला महत्त्व असेलेले दिसते. या प्रकारच्या प्रवासात नायकाची आंतरिक घुसमट आहे. त्याचा मतलबीपणा व संधिसाधूपणा आहे. इतरांच्या गटबाजीला उत्तर देण्यासाठी त्याने आखलेले डावपेच आहेत. तसेच त्या डावपेचांमधील यशापयश आहे, लबाडी आहे. या संपूर्ण प्रवासात सलामाला विशेष स्थान नाही. ती इंग्रजी विषयाची प्राध्यापिका आहे. तिचे काही व्यक्तिगत संघर्ष आहेत. पण ती समजूतदार असल्याने (नाटककाराने तिला समजूतदार ठेवल्याने) त्याच्या मानसिक उलघालीत तिच्या मनातील लहानसहान दुःखही पुरेसे व्यक्त करण्याला अवसर मिळत नाही कारण त्याचे झगडत राहणे इतके तीव्र आहे की, त्या तीव्रतेत तिचे तीव्र दुःखही त्याला प्रतीत होऊ शकत नाही. पतिपत्नी संबंधामधील हा सूक्ष्म अंतराय नाईक सामर्थ्याने प्रकट करतात. त्याचबरोबर सभोवतालच्या सांस्कृतिक क्षेत्रातील भ्रष्ट राजकारणालाही पुरेसे मुखरित करतात. परंतु तरीही त्यांनी रंगविलेली सलमा सामान्य विचारांची, सामान्य कुवत असलेलीच असते. तिचाही त्याग, समर्पणादी पारंपरिक कल्पनांवर विश्वास आहे. स्त्रीपात्रचित्रणाच्या दृष्टीने सलमाचा विचार करताना आधुनिक काळातील स्त्री म्हणून सलमाचे कोणतेही वेगळेपण आपल्या प्रत्ययाचा विषय होत नाही. तिचे 'सलमा' असणेही वैशिष्ट्यपूर्ण ठरत नाही. पत्नी ही सहचारिणी असते या सूत्रातच हे स्त्रीपात्र अडकून पडते. ती नवऱ्याला त्याच्या विशिष्ट उक्तिकृतींचा जाब विचारते. ती विशिष्ट प्रसंगात त्याची समजूत घालते. ती त्याला त्याच्या मुखवट्यामागील 'चेहऱ्यां'चे दर्शन घडविते. त्याचबरोबर त्याच्या हताश अवस्थेत ती त्याची प्रेरकशक्ती म्हणून प्रकट होते. उत्तर आधुनिक काळातील एक संवेदनशील नाटककार स्त्रीपात्रांचे या प्रकारचे चित्रण करीत आहे. याकडे लक्ष द्यायला हवे. सलमा पुरुषाला घरात काम करावे लागत नाही याविषयी अधूनमधून उपहासाने बोलते; पण त्या उपहासातही एक प्रकारचा लाडिकपणा डोकावतोच. याउलट भा. वि. वरेरकरांनी आपल्या 'भूमिकन्या सीता' या नाटकात पारंपरिक स्त्री प्रतिमेला विरोध करणारी 'वासंती' हे स्त्रीपात्र रंगविले आहे हे लक्षात घ्यायला हवे. सलमा स्त्रीचा सहचारिणी असण्याचा जो धर्म कळत नकळतपणे स्वीकारते व तो स्वीकारताना प्रसंगवशात वेगवेगळी रूपे धारण करते. त्याप्रमाणे सीताही शक्य तेथे कळतनकळत रामाची कानउघडणी करते. विशेष म्हणजे 'भूमिकन्या सीता' मधील 'उर्मिला' स्ववैशिष्ट्यांनी आधुनिक स्त्री कशी असावी याचे जणू दर्शन घडविते. म्हणूनच उत्तर आधुनिक काळातील हा नाटककार (खरे तर सर्वच नाटककार) पुरेशा सहसंवेदनेने स्त्रीपात्राची निर्मिती करताना दिसत नाही. नाटकातील इतर पात्रांबरोबर एक स्त्रीपात्र एवढेच महत्त्व त्यांना कधी कधी प्राप्त होते, असे खेदाने म्हणावेसे वाटते.

यानंतर 'शोभायात्रा' (शफायत खान), 'माकडा हाती शॅम्पेन' (विवेक बेळे), 'फायनल ड्राफ्ट' (गिरीश जोशी) या नाटकांचा विचार करता येईल. 'माकडा हाती शॅम्पेन' आणि 'फायनल ड्राफ्ट' या नाटकांच्य छापील संहिता उपलब्ध नसल्यामुळे यातील स्त्री-पात्रांचा विचार केलेला नाही. 'माकडाच्या हाती शॅम्पेन' या नाटकातील 'पेन्सिल' हे स्त्री-पात्र मराठी रंगभूमीवरील अभिनव असे स्त्री-पात्र आहे. या स्त्री-पात्राचा विविध अंगाने विचार करणे संभवनीय आहे हे इथे नोंदवून ठेवते. 'शोभायात्रा' हे नाटक पुस्तकरूपाने प्रकाशित झाले आहे. 'शोभायात्रा' या नाटकात दोन स्त्री-पात्र आहेत. एक पत्रकार आणि दुसरी झाशीच्या राणीची भूमिका करणारी बाई. ही स्त्री-पात्र परस्परविरोधी स्त्री-प्रतिमा म्हणून एकमेकींच्य समोर येतात. पत्रकार असलेले स्त्री-पात्र हे अलीकडील काळात 'स्त्री' चं काही अंशी पालटलेलं जे रूप आहे. त्या रूपाला साकार करणारे आहे. उदा. हे पत्रकार स्त्री-पात्र मूल्यविषयक कोणतीच भूमिका ठामपणे स्वीकारताना दिसत नाही. भारताच्या स्वातंत्र्यास ५० वर्षे झाली म्हणून जी शोभायात्रा निघणार आहे त्या यात्रेचे चित्रिकरण करणे आणि त्यात सहभागी होणाऱ्या नटांच्या मुलाखती घेणे एवढे मर्यादित नाट्यकार्य या पात्राला लाभलेले आहे. या कार्याच्या निमित्ताने रङ्गमंचावर वावरणारे हे स्त्री-पात्र पुरुषांच्या मनातील स्त्रीविषयक विचार उघडपणे बोलून दाखविते. इतकेच नव्हे तर हे स्त्री-पात्र स्त्रीविषयक प्रश्नांना केंद्रस्थानी ठेवून ज्या विविध चळवळी झाल्या त्या चळवळींमुळे आणि उदारमतवादामुळे स्त्रीला प्रगतीच्या ज्या वेगवेगळ्या वाटा उपलब्ध झाल्या त्या वाटांनी प्रवास करताना स्त्रियांनी स्वतःला पटणारे असे एक वेगळेच भावविश्व स्वीकारलेले दिसते. हे भावविश्व 'बार्बी' या स्त्री-पात्राच्या उक्तिकृतीद्वारे अधोरेखित झालेले आहे.

उदा. शरीर गरज म्हणून बाबूशी प्रणय करणारी बार्बी भाईचा

फोन आल्यानंतर तितक्याच आनंदाने भाईकडे निघून जाते. हे पात्र योनिशुचिता, शीलसंपन्नता ही मूल्ये सहजभावाने नाकारताना दिसते. अशी स्त्री अमेरिकन असल्याचे रंगविण्यात नाटककाराचा कोणता हेतू असावा असा प्रश्न उपस्थित करायला हवा असे वाटतेह. याउलट नाटकात झाशीच्या राणीची भूमिका करणारे स्त्री-पात्र द्विस्तरीय पातळीवर वावरताना दिसते. झाशीच्या राणीची स्वातंत्र्याकांक्षा आणि त्यासाठी तिने केलेला पराक्रम हा ऐतिहासिक संदर्भ आणि नाट्यगत स्त्री-पात्राचे मूल न झालेली स्त्री म्हणून लौकिक जीवन यातील विरोधाभास येथे साकार होतो. तिच्या वाट्याला तऱ्हेतऱ्हाची हेटाळणी येते. तिने आपल्याला घटस्फोट द्यावा असे तिच्या नवऱ्याला वाटते आणि वंशविस्तारासाठी तो बाईने स्वीकारावा असे नवऱ्याच्या वकिलांना वाटते. याचा अर्थ पुरुषसत्ताक व्यवस्थेला आवाहन करणाऱ्या अनेक स्त्रीवादी चळवळी होऊनही आणि स्त्रीसंबंधी अनेक तऱ्हेचे विचारदर्शन प्रसृत होऊनही प्रत्यक्ष लौककिव्यवहारात बहुतांशी स्त्रियांचे आयुष्य पारंपरिक मूल्यांच्या पाठपुराव्यामुळे होरपळून निघालेले दिसते. स्त्रीवादी चळवळीनंतरसुद्धा पुरुषसत्ताक व्यवस्थेच्या विचारव्यूहात बदल झालेला नाही हे नाटककाराला या 'स्त्री' पात्रांच्या माध्यमातून अधोरेखित करावयाचे आहे का? असाही प्रश्न येथे उपस्थित करता येईल. एकूण, काळ पुढे सरकत आलेला असला तरी स्त्री-पात्रांकडे बघण्याची नाटककारांची भूमिका आमूलाग्र बदललेली दिसत नाही.

दलित रंगभूमी ही एक वैशिष्ट्यपूर्ण रङ्गभूमी असून या रङ्गभूमीवरील स्त्री-प्रतिमांचा विचार करणे महत्त्वाचे आहे. दलित नाटककार म्हणून दत्ता भगत, रामनाथ चव्हाण, बाजीराव रामटेके, प्रेमानंद गज्वी, टेक्सास गायकवाड, सिद्धार्थ तांबे हे नाटककार आपल्या नजरेसमोर येतात. १९८० पासूनच्या दलित नाटकांचा जरी विचार केला तरी मराठी रंगभूमीला विशेष योगदान देणाऱ्या नाटकांतील स्त्री-प्रतिमांचे स्वरूप सहज तपासता येण्यासारखे आहे. दलित नाटकांतील संघर्ष हा दलित विरूद्ध उच्चवर्णीय म्हणजे शोषित असा असतो हे सर्वज्ञात आहे. त्यामुळे नाट्यगत पात्रेही याच वर्णातील असतात. तसेच दलित नाटकही प्राधान्याने नायककेंद्री असते आणि हा नायक शोषित वर्गातील असतो. तनमाजोरी, कैफियत, गांधी - आंबेडकर अशा काही नाटकांचा अपवाद करता ह्या नाटकांनीही प्रामुख्याने कुटुंबाचाच स्थलावकाश व्यापलेला असतो. स्वाभाविकच दलित नाटकात प्रामुख्याने पत्नी, आई, मुलगी या नात्यांतील स्त्री-प्रतिमा मोठ्या प्रमाणावर रेखाटलेल्या दिसतात. काही स्त्री-पात्रे दलित तर काही स्त्री-पात्रे उच्चवर्णीय दिसतात. दलित स्त्री-पात्रे ही मुख्यत: शोषित पात्रे असतात तशीच ती परिस्थितीबरोबर समझोता करीत जगणारी असतात. त्याचबरोबर ती समजूतदारही असतात. अनेक दलित नाटकांत दलित पुरुषाशी विवाहबद्ध झालेली उच्चवर्णीय स्त्री-पात्रे सामोरी येतात. 'कोण म्हणतं टक्का दिला', मन्वंतर, वाटा - पळवाटा, खेळीया यांसारख्या नाटकांचा अपवाद केला तर उच्चवर्णीय स्त्रीला दलित नाटकांत पात्र म्हणून फारसे स्थान प्राप्त झालेले दिसत नाही. दलित व्यक्तीशी लग्न करून दलित कुटुंबात आलेली स्त्री-पात्रे ही विशेषत: ब्राह्मण जातीतीलच आहेत. हेही नजरेआड करण्यासारखे नाही. मात्र ही स्त्री-पात्रे काही खास वैशिष्ट्यपूर्ण आहेत असे नाही. 'बामणवाडा' मधील (रामनाथ चव्हाण) ब्राह्मण स्त्री-पात्र वगळले तर 'वाटा - पळवाटा' (दत्ता भगत), 'मन्वंतर' (टेक्सास गायकवाड) या नाटकांतील अनुक्रमे हेमा, तारा ही पात्रे मराठी रङ्गभूमीवरील स्त्री-पात्रांप्रमाणेच समर्पणशील, त्यागी सोशिक आदी गुणांनी मंडित झालेल्या दिसतात. 'मन्वंतर' मधील तारा गिरीशशी (नायकाशी) विवाह करण्यासाठी स्वत:च धर्म व त्या धर्मातील 'देवांचा सहजपणे त्याग करते. तर 'वाटा-पळवाटा' मधील हामाचे सासरे ती ब्राह्मण असल्याबद्दल तिच्यावर सतत टीकाटिप्पणी करतात. पण ती त्यावर संयमानेच आपल्या प्रतिक्रिया देते. दलितपण शिक्षित, सुसंस्कृत पुरुषाची निवड पती म्हणून त्या करतात. जन्मजात धर्माचा त्या सहजतेने त्याग करतात असे रंगविलेले दिसते. मात्र त्यांच्या ह्या प्रवासामागील त्यांच्या ठायीच्या वैचारिक क्षमतांचे दर्शन घडविले जात नाही. त्यामुळे ही स्त्री-पात्रे अविश्वसनीय वाटण्याची अधिक शक्यता दिसते.

मराठी रंगभूमीवर पुरुष नाटककारांनी वर्चस्व प्रस्थापित केलेले आहे. स्त्रियांनी अपवादांनीच नाटके लिहिली आहेत परंतु अपवादानेच त्यांचे प्रयोग झाले आहेत. त्यातील ज्योती म्हापसेकरांच्या 'मुलगी झाली हो!' आणि सई परांजपे यांच्या 'माझा खेळ मांडू दे' या नाटकांचा थोडक्यात विचार करायचा आहे. ह्या दोन्ही नाटककार स्त्रिया उत्तर आधुनिक काळातील आहेत. त्यांच्या सभोवतालच्या समाजात जी उलथापालथ होत होती, तिचा त्या एक संवेदनशील घटक होत्या. त्यामुळे लग्न, हुंडा, चालीरीतींमधील एकांगीपणा व विपरीतता, स्त्रीचे सर्वस्तरीय शोषण, पुरुषप्रधान व्यवस्थेतील मुजोरपणा, स्त्रीची घडत जाणारी दुबळी मानसिकता, तिचा संसार तगविण्याची धडपड आणि तिचे परात्मपण या साऱ्या गोष्टी त्या दोघींच्या सर्जनशीलतेचा विषय आहेत. या दोघींनी फार गंभीरपणे स्त्री-प्रश्नांना नाट्यरुप देण्यात यश मिळविले आहे असे, म्हणावे लागेल. ज्योती म्हापसेकर वैचारिक आदानप्रदानासाठी, परिवर्तनवादी विचारांच्या अभिव्यक्तीसाठी पथनाट्याचा रूपबंध स्वीकारतात. त्यामुळे स्त्रीमुक्तीचा नवा प्रवाह पुढे नेला जातो. पण त्यातही त्या विचारंपेक्षा भावनिकतेला आणि बुद्धीपेक्षा मनालाच आवाहन करतात. मागे म्हटल्याप्रमाणे भावनिक आवाहन रोजच्या गर्दीच्या, कुचंबलेल्या धावपळीत विरून जाऊ शकते आणि जातेही. सई परंजपेंनी निर्मिलेली नायिकाही फार वैचारिक पातळीवर कालक्रमण करीत नाही. 'माझा खेळ मांडू दे' मधील सारी

स्त्रीपात्रे खेळ मांडण्याची संधी मिळाली तर तुझी पूजा करेन असे गणेशाला विनविताना दिसतात. खेळ म्हणजे संसार असे मानले तर प्रस्तुत नाटकातील स्त्रिया आपापला संसार मांडण्यासाठी गणेशाला म्हणजे एका 'पुरुषा'ला कळकळीने विनवत असल्याचे दिसतात. हा नाट्यगत अनुभव करूण आहे. कारण त्यातून स्त्रीची दुबळी मानसिकता आणि गतानुगतिकताच प्रभावीपणे प्रकट होते.

स्त्री नाटककार म्हणून मनस्विनी लता रवींद्र आणि इरावती कर्णिक ही बहुचर्चित नावे आहेत. स्त्री किंवा पुरुष यांच्या सेक्सविषयक जाणिवेकडे त्या काहीशा प्रगल्भतेने पाहात आहेत, असे वाटते. या दोन नाटककारांनी रंगविलेल्या भावाविश्वावर व स्त्री-पात्रांवर भाष्य करणे घाईचे होईल असे वाटते. तरीही मानवी जीवनाच्या केंद्रस्थानी असलेल्या प्रश्नांना अतिशय धीटपणे आपल्या उणिवांसह त्या सामोऱ्या जात आहेत हे नोंदवायला हवे.

सारांश, आधुनिक आणि उत्तर आधुनिक काळात स्त्रीविषयक प्रश्नांसाठी अनेक चळवळी उभ्या राहिल्या. परिस्थितीवश पुरुषांनी सुरू केलेल्या स्त्री-स्वातंत्र्याच्या चळवळीची सूत्रे पुढील काळात स्त्रियांनी आपल्या हाती घेतली. शिक्षणाच्या झालेल्या प्रसारामुळेच स्त्रियांनी आपले कर्तृत्व वेळोवेळी सिद्ध केले. आज काहीजणींचा तरी सामाजिक दर्जा उंचावलेला आहे. त्यांच्या आशाआकांक्षा जश वाढल्या आहेत तशा त्या बदललेल्याही आहेत. स्त्रीचाच नव्हे तर माणसांचाच स्वातंत्र्यविषयक पेच सभान झालेल्या स्त्रियांना कळू लागलेला आहे. उत्तरोत्तर सर्व स्तरांतील स्त्रिया कमी-अधिक प्रमाणात त्यांच्या समोरील प्रश्नांना धीराने सामोऱ्या जात आहेत. अर्थात असंख्य स्त्रिया गतानुगतिक समाजव्यवस्थेच्या 'गुलाम' ही आहेत. आपण 'गुलाम' आहोत याचे अनेक जणींना भान नाही. समाजातील स्त्रीघटकामध्ये अशी तऱ्हेतऱ्हेची संगती-विसंगती दिसते आहे. पण साऱ्या परिवर्तनांना, स्त्रियांच्या बदललेल्या मानसिकतेला, बदललेल्या सामाजिक व मानसिक संघर्षाला आणि परिस्थितीतील संगतीविसंगतीला मराठी रंगभूमीवर व्यक्त करण्याचे सामर्थ्य असलेला नाटककार (स्त्री अथवा पुरुष) नाही. या उलट मराठी रंगभूमीवर 'हसा-हसवा' या सूत्राने बांधलेल्या नाटकांचे उदंड पीक आले आहे. विशेष महत्त्वाचे म्हणजे स्त्रियांच्या सवयी, त्यांचे दिसणे आदी गोष्टींनाच विनोदात महत्त्व येत आहे आणि स्त्री-पुरुष दोघेही संगतीसोबतीने त्याचा आस्वाद घेत आहेत हे गंभीर आहे किंवा नाही हे वाचकांनीच ठरवायचे आहे.

दुसरे असे, वरील सर्व नाटककारांमध्ये काही नाटककारांचा व त्यांनी रंगविलेल्या स्त्रीपात्रांचा अपवाद केला तर गतानुगतिक जीवनमूल्यांचा अवलंब करणारी स्त्रीपात्रेच मोठ्या प्रमाणावर रंगभूमीवर आली. कारण परिवर्तनवादी अनेक चळवळी उभ्या राहिल्या तरी समाजातील बहुसंख्य वर्ग हा अशा चळवळींपासून फटकून राहातो. त्याच्या बोथट संवेदना त्याला विचारसन्मुख करीत नाहीत. परिणामी समाजात वरवरचे बदल होतात. कालांतराने त्या बदलांमध्ये एक प्रकारची भ्रष्टता येते. त्यामुळे समाज जिथल्या तिथे राहताना दिसतो. म्हणूनच नाट्यगत स्त्री-प्रतिमा ह्या पारंपरिक, कालबाह्य मूल्यांचाच पुरस्कार करणाऱ्या असतात किंवा त्या रसिकांच्या थिल्लर प्रवृत्तींचे थिल्लर रंजन करणाऱ्या असतात. आजच्या मराठी रंगभूमीकडे पाहिले तर या रंगभूमीला काही काळ तरी समृद्ध व संपन्न वारसा लाभला होता यावर कुणाचा विश्वास बसू नये इतक्या हलक्या व सामान्य पातळीवर नाट्यगत स्त्रीचित्रण आले आहे. तसेच प्रायोगिक म्हटल्या गेलेल्या व काही नवेनवे प्रयोग करू पाहणाऱ्या प्रायोगिक रंगभूमीनेही वाचकप्रेक्षकांच्या दीर्घकाळ स्मरणात राहील अशी स्त्री-प्रतिमा रंगविली नाही, मग केवळ थिल्लर रंजनाला महत्त्व देणारे स्त्रियांच्या 'आज' च्या प्रश्नांकडे डोळसपणे आणि सहसंवेदनेने पाहात नाहीत, अशी तक्रार करण्यातही काही अर्थ नाही. खरे तर संवेदनशील प्रतिभावंत नाटककारांनाही हे नवे बदल, स्त्रीची नवी घुसमट, तिचे अंतर्बाह्य घुसमटणे उमजत नाही की, उमजून मांडावेसे वाटत नाही!

•••

स्त्री रचित स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य

डॉ. सुधा अरोड़ा



अपनी बात मैं नवनीता देवसेन के द्वारा हैदराबाद में वीमेंस वर्ल्ड की एक कार्यशाला में सुनाई पंद्रह साल पहले की एक दिलचस्प घटना से करना चाहती हूं । कोलकाता में महिला रचनाकारों पर एक कार्यक्रम आयोजित किया गया । मंच पर कुछ महिला साहित्यकार मौजुद थीं । आयोजक दे दो तीन वक्ताओं के के बाद नवनीता जी की ओर देखते हुए घोषणा कि अब वे व्याख्यान के लिए कविता सिंह को आमंत्रित कर रहे हैं । सारे उपस्थित लोग इधर उधर देखने लगे क्योंकि कविता सिंह वहां थी ही नहीं। जाहीर है, आयोज़कों ने महिला साहित्यकारों का आयोजन तो कर लिया था पर न उन्होंने आमंत्रित महिलाओं की रचनाओं को पढ़ा था, न उनमें उनकी कोई दिलचस्पी थी, बस, एक औपचारिकता भर निभायी जा रही थी । नवनीता जी माइक पर पहुंची और उन्होंने कहा - आयोजकों को गलतफहमी हुई है। उन्हें नहीं मालूम कि मैं कविता सिंह नहीं हूं मैं महाश्वेता देवी हूं । यह व्यंग्य कितना संप्रेषित कर पाया, यह बात दीगर है ।

सचमुच आज से पहले तक महिला लेखन को एक सन्माननीय दर्जा प्राप्त नहीं था और जो दो-चार महिलाएं रचनाएं करती भी थीं, उन्हें घर के सीमित दायरे की सीमित समस्याओं के घेरे में रचा लेखन मानकर या घर बैठी ''ऊबी हुई सुखी महिलाओं का लेखन'' मानकर गंभीरता से नहीं लिया जाता था।

आज की हिन्दी कहानी में अगर अनिवार्य रूप से महिलाओं द्वारा रचे गए साहित्य पर चर्चा की जाती है तो उसका एक कारण यह भी है कि हिन्दी कथा साहित्य में पिछले तीन दशकों से लेखिकाओं की संख्या में गुणात्मक वृद्धी हुई है । पहले जहां महिलाओं के लेखन की घर परिवार की चहारदीवारी में कैद और समाज की दूसरी अहम (?) समस्याओं से कटा हुआ फुरसती लेखन मानकर उसे दरकिनार कर दिया जाता था, आज अपेक्षाकृत निर्माण होकर उसकी जांच पड़ताल की जाती है । यह सुखद है कि महिलाओं द्वारा रचे गए साहित्य का पिछले कुछ वर्षोंसे एक सकारात्मक, विश्लेषणात्मक और ऊर्ध्वमुखी विकास इस वक्तव्य को खारिज करता है कि पढी लिखी धनाढ्य महिलाएं दुपहर की फुरसत में कलम घसीटती या चित्रकारी करती हैं । इस तरह के पुरुष संपादकों के वक्तव्य पढ़कर देबोरा कैमरॉन की एक उक्ति याद आती है कि 'लेखन भी एक तंत्र है और अधिकांश तंत्रो की तरह इस पर भी शक्तिशाली वर्ग ने एकाधिकार जमा रखा है।'

महिला कथाकारों द्वारा लिखी गयी रचनाएं, वह भी सिर्फ महिला के केन्द्र में रखकर लिखी गयीं - क्या सचमुच इन्हें अलग से रेखांकित करने की जरूरत है? आज जब महिलाओं में साक्षरता की दर में बीस प्रतिशत वृद्धि हुई है, महिलाएं पहले से कही अधिक अपनी समस्याओं के प्रति जागरूक हैं, वे घर के चहारदिवारी से निकलकर बाहर के हर क्षेत्र में मुस्तैदी से अपनी पहचान बना रही है, तब सिर्फ महिलाओं पर अत्याचार और शोषण की ही बात करते रहना कहां तक जायज़ हैं? यह सवाल अक्सर न सिर्फ पुरुषों द्वारा, बल्कि जागरुक महिलाओं द्वारा भी उठाया जाता रहा है ।

इस सवाल का कोई उत्तर से पहले एक तथ्यगत आंकड़े की ओर ध्यान देना जरुरी है? हम महानगरों या छोटे शहरों में रहनेवाली जिन पढ़ी लिखी कामकाजी औरतों की बात करते हैं, उनकी संख्या पूरे भारत में दो प्रतिशत है। और यह तबका भी क्या - 'औरत' होने के कारण पैदा हई समस्याओं से अछूता है? कामकाजी औरतों की घर और बाहर की दुहरी जिम्मेदारी में क्या उसे अपनी पति या परिवारवालों से कोई रियायत मिलती है? क्या आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने या अपने परिवार का खर्च खुद उठाने का सामर्थ्य रखनेवाली महिलाएं अपनी शर्तों पर जिन्दगी बसर कर सकती है? क्या ऊंचे ओहदों पर कार्यरत महिलाएं भी अपने कार्यक्षेत्रों के बड़े बड़े फैसलों में निर्णायक की भूमिका अदा करती है' (जब तक कि वे खुद उस संस्था की मालिक या संचालक न हों) इन सभी प्रश्नों का उत्तर हमें नकारात्मक ही मिलेगा ।

इसी सवाल से जुड़ा सवाल यह भी है कि हम कबतक सिर्फ इस दो प्रतिशत की ही बात करते रहेंगे, जिसमें कमोबेश हम अपने को भी शुमार करते हैं और खुद को मिली सुविधाओं और रियायतों के कारण अपने आप को दूसरी बहुसंख्यक महिलाओं के मुकाबले भाग्यशाली महसूस करते हैं। यह रवैया वैसा ही है जैसा अपने घर की खिड़कियां और दरवाज़ो को बन्द कर हम बाहर की दुनिया से आंखे बन्द कर लें और कहें कि हमारे कमरे या हमारी हद में आनेवाली दुनिया ही सच है, बाहर की दुनिया सिर्फ अखबारों की दुनिया है,

औरत की ज़िन्दगी में घटनेवाला हर हादसा चंद लाईनों की एक अखबारी रपट है । इस अपेक्षाकृत बड़ी दुनिया तक पहुंचने के लिए हमें अपने घर की खिडकिया खोलनी ही होंगी । हमें इस दो प्रतिशत के विशिष्ट वर्ग कीं नहीं, आम और सामान्य औरत की बात करनी है ।

पचास साल पहले फ्रांस की सुप्रसिद्ध नारीवादी लेखिका सिमोन द बुवा ने अपनी किताब 'द सेकेण्ड सेक्स' में एक सवाल उठाया था 'यह दुनिया हमेशा पुरुषों की रही, मगर क्यों? स्त्री को उनके अधीन होकर ही रहना पड़ा।' पचास साल बाद आज भी यह सवाल उतना ही समीचीन है जितना तब था । कुछ गावों और कस्बों में तो स्थितीयां तेज़ी से बदतर होती जा रही हैं। एक लड़की के लिए अपने देह और आत्मसम्मान बचाकर जीना इतना मुश्किल होता जा रहा है। इसके अंदेशे से बिहार में कन्या शिशु के जनमते ही उसके मुंह में मुट्ठी भर नमक डालकर उसे मार डाला जाता है। गांवो में आज भी किसी भी पारिवारिक या सामाजिक रंजिश का बदला इस परिवार की महिला को निर्वस्त्र कर पूरे गांवों में घूमाकर लिया जाता है । हर दो घंटो में दहेज के कारण एक हत्या दर्ज की जाती है । बलात्कार के आंकड़े दिन पर दिन बढ़ रहे हैं । जहां कानून इतना ढिला है कि बलात्कार के मुकादमों में प्रत्यक्ष साक्ष्य मांगता है, प्रत्यक्ष साक्ष्य मिलने पर उसे मनमाने तरीके से अस्वीकार करता है, बलात्कारियों को पकड़ने के बाद भी न सिर्फ उन्हें जमानात पर रिहा कर दिया जाता है बल्कि उनके सम्मान में जश्न मनाया जाता है। माया त्यागी से लेकर मुरादाबाद की किसनवती तक और बसमतिया से लेकर भटेरी की भंवरी देवी तक प्रताड़ना का एक लम्बा सिलसिला है।

ऐसे सामाजिक माहौल के बीच यह प्रत्याशित नहीं है कि न सिर्फ हिन्दी में बल्कि भारत की सभी भाषाओं में महिला रचनाकारों की एक बड़ी जमात औरत के सामाजिक सरोकारों के साथ उभरी है। भारतीय भाषाओं में पिछले सौ वर्षो का इतिहास गवाह है कि महिलाओं द्वारा हर काल में रचनात्मक स्तर पर इन मुद्दों पर विचार के साथ-साथ रचनाकर्म की किया जाता रहा है । बंगाल में निरूपमा देवी, स्वर्ण कुमारी, ज्योर्तिमयी देवी, विनोदिनी दास, महाराष्ट्र में ताराबाई शिंदे, काशीबाई कानेटकर, रमाबाई रानडे, उर्दू और हिन्दी में रुकैया सखावत हुसैन, सुभद्राकुमारी चौहान, शिवरानी देवी, सुमित्राकुमारी सिन्हा, महादेवी वर्मा और चुगताई ने अपने समय में औरतों की सामाजिक स्थिति पर कहानियों या लेखों के रूप में अपने बयान दर्ज किए है।

पिछले चालीस वर्षों में विश्व की हर भाषा में महिला रचनाकारों की संख्या में गुणात्मक वृद्धि हुई है। यहां तर कि आज हर भाषा में इस के नारीवादी लेखन को लेकर अलग से बातचीत करने की जरूरत महसूस की जाने लगी है। इन्हें स्वीकृति देने के साथ-साथ इन्हें आरोपों के कटघरे में खड़ा किया जाता है। कहा जाता है कि इनके लेखन में वैविध्य नहीं है, ये सिर्फ घर की चौहद्दी में कैद समस्याओं पर ही अपनी लेखनी चलाती हैं, इनके विषयों का दायरा बहुत सीमित है। घर और बाहर के क्षेत्रों में बाहर के मुकाबले 'घर' को अपेक्षाकृत छोटा, सीमित, तंग और दोयम दर्ज़े का 'स्पेस' माना गया है। इस छोटी और तंग स्पेस को गैरजरूरी करार कर हमेशा अंधेरे में ही रखा गया है । इसपर सदियों से जमी काई और सीलन को देखा जाना जरूरी है। वास्तविकता यह है कि इस चहारदीवारी में कैद छोटी सी दुनिया के 'अस्तित्व' की अपनी बढ़ी समस्याएं है और कुछ अपवादों को छोड़कर पुरुष लेखक एक दर्शक होने के नाते भोक्ता औरत की कहानी उतरनी प्रामाणिकता के साथ नहीं कह सकता। यहां राजकिशोर की एक उक्ति मुझे याद आ रही है 'पुरुष लेखक कितनी भी संवेदनशीलता दिखाए, वह स्त्री का अपना वृत्तांत नहीं लिख सकता। स्त्री के पक्ष में यथार्थ की जड़े हमेशा मजबूत होती है'। एक गांव कस्बे की औरत हो या शहर की पढ़ी लिखी औरत, सबको एक साथ कई मोर्चो पर जूझना पड़ता है और इसका कारण सबसे पहले पुरुष वर्चस्व वाले समाज में उसके औरत होने में निहित है। बहरहाल, पिछले पचास सालों के बदलते सामाजिक स्थिति का यथार्थ आकलन अपने समय में रचे गए साहित्य में हमें यह देखना है कि क्या औरत की सामाजिक स्थिति का यथार्थ आकलन अपने समय में रचे गए साहित्य में सही रुप में हो पाया है।

भारतीय समाज मूल रुप में एक संयुक्त परिवार का रुप रहा है और संयुक्त परिवार में औरत का दर्जा लगभग वही रहा है जो सामंती परिवार में मालिक के नीचे काम करने वाले गुलाम या जमींदार के नीचे काम करनेवाले किसान का होता है। इन सम्बंधो को अर्थसत्ता निर्धारित करती है। पुराने संयुक्त परिवारों में सतह पर दिखते आपसी सौहार्दपूर्ण सम्बधों के बीच आम तौर पर घर का मालिक निरंकुश शासक होता था जिसके हाथ में सभी सदस्यों की नकेल है और इस संयुक्त परिवार की औरत नीची आंखे किए एक अधिकारहीन नारी का प्रतिरुप रही है।

इस समय के रचे गए साहित्य में स्वाभाविक रुप से नारी के त्याग को सर्वोपरि गुण माना गया और उसके इसी गुण पर केंन्द्रित कर नारी पात्र गढ़े गए। उस समय की महिला रचनाकारों में सुभद्राकुमारी चौहान, शिवरानी देवी या सुमित्राकुमारी सिन्हा की कहानियों के नारी पात्रों में चारित्र के स्तर पर अद्‌भुत समानता है। ये कहानियां यथार्थ के धरातल पर जन्म जरुर लेती थीं पर उनकी परिणति अनिवार्य रुप से आदर्शवादी मोड़ पर होती दिखाई देती थी। वह चाहे सुमित्राकुमारी सिन्हा की कहानी 'व्यक्तिगत की भुख' हा या सुभद्राकुमारी चौहान

की व्यक्तिपरक रेखाचित्रनुमा कहानियां-गौरी, कल्याणी,रुपा,मंगला, सुभागी-जैसा कि शीर्षक से ही जाहीर है। स्त्री के रुप में ही आया है चाह वह सौ साल पहले की रुकैया सखावत हुसैन की कहानी,' सुलताना का सपना' हे या 'व्यक्तितत्त्व की भुख' जहां लेखिका उन स्थितियों में पुरुष की कल्पना करती है, जिनसे स्त्री को गुजरना पड़ता है। महादेवी वर्मा की स्त्री के अपेक्षाकृत उजले पक्ष और दयावान ममतालु स्वरूप को उजागर करती कुछ कहानियां भी काव्यात्मक शैली में हमें देखने को मिलती हैं।

रीतिकालीन सौन्दर्य या छायावादी काव्यात्मकता और एक निराकार वायवी स्त्री के तिलिस्म को प्रेमचन्द्र की'बड़े घर की बेटी', 'बुढ़ी काकी' और ''अलग्योझा' के नारी चारित्रों ने एक झटके से खंडित कर दिया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद जिस भारतीय मध्यमवर्ग का भयानक विघटन आरम्भ हुआ था, उसके स्पष्ट स्वर प्रेमचन्द की कहानियों में सुनाई दे रहे थे। प्रेमचन्द की कहानियाँ में प्रेयसियां नहीं थीं, गरीब किसान मजदूर परिवार की अशिक्षित,सीधी सादी मां, बेटी, पत्नी या बहू थी। इस स्त्री का संघर्ष बहुत कुछ बाह्य था और इसका कारण तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक परिवेश था और ये पात्र अपनी परिवेशगत सच्चाइयों से उपजे थे इसलिए वे अपनी जमीन से जुड़े थे। प्रेमचन्द क स्त्री पात्र खेतों सें शारीरिक श्रम करती थी, रोटी रोजी कही लड़ाई में हाथ बंटाती थी और अन्याय को देखते हुए भी भाग्य को स्वीकारते हुए जीवन से जूझने का प्रयत्न करती थी। इन स्त्री पात्रों का एक क्रमिक विकास हुआ है। ईदगाह की अमीना, अलग्योझा की पन्ना, बेटों वाली विधवा की फुलमती, हार की जीत की लज्ज जैसे स्त्री चरित्रों को गढ़ने में प्रेमचन्द का झुकाव आदर्शवाद की ओर रहा है पर अपनी बाद की कहानियों 'पूस की रात', 'कफन' 'शतरंज के खिलाड़ी' तक पहुंचते पहुंचते उन्होंने जैसे अपने ही आदर्शवाद के प्रति जेहाद घोषित कर दिया।

जैनेन्द्र के साहित्य में हमें एक हाड़ मांस की स्त्री अपने अलग अलग रुप में तमाम कमजोरियों, खामियों और खूबियों के साथ दिखाई देती है। यह उस सामाजिक स्थिति का प्रतिफलन है जहां आजादी की लड़ाई में स्त्री भी पुरुषों के साथ साथ घर की चहार दीवारी से बाहर निकल कर आई थी। आज़ादी हासिल होने के बाद अधिकांश को वापस घर की चौहद्दी में लौटना पड़ा और इसलिए आज़ादी के बाद के लेखन में स्त्री का एक यथार्थपरक रुप तो उभारता है पर यह मन के अन्तर्द्वन्द्व और आन्तरिक संशय के कंधो पर ही टिका हुआ है।

जब स्त्रीवाद नारे और आंदोलन के रूप में चर्चित नहीं था, तब भी नारीवादी लेखन किया गया है। रुकैया सखवत हसन की कहानी '' सुलताना का सपना '' देखें। बंग महिला, सुमित्राकुमारी सिन्हा, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की कहानियों के बाद महादेवी वर्मा की ' श्रृंखला की कड़ियां ' के आलेख अभूतपूर्व हैं - उन दिनों संस्मरण विधा का भी इतना चलन नहीं था पर महादेवी जी ने अपने आलेखों में कितनी सशक्त शैली में अपने समय की स्त्री की हर क्षेत्र में यातना का सटीक चित्रण किया - उसमें लछमा का चरित्र बहुत कुछ कह जाता है। महादेवी स्त्री को लेकर अपने समय की सोच पर या स्थितियों पर कोई बयान नहीं देतीं पर उस समय से उठाए गए एक स्त्री पात्र का जैसा रोंगटे खड़े कर देने वाला चित्रण वह करती हैं, वह अपने आप में एक बयान है। कृष्णा सोबती की मित्रो मरजानी, उषा प्रियंवदा की पचपन खंभे-लाल दीवारें, मन्नू भंडारी की कहानियां - बंद दराज़ों का साथ, तीन निगाहों की एक तस्वीर, अकेली, नई नौकरी, स्त्री सुबोधिनी परंपरा और विद्रोह के संधिकाल में खड़ी स्त्री की कहानियां हैं। इन कहानियों का विश्लेषण करें तो उस समय की स्त्री की सामाजिक स्थिति को बखूबी पहचाना जा सकता है। लेकिन महिला रचनाकारों की यह त्रयी जब तक रचनारत थी, इन्हें महिला लेखन के खांचे में नहीं डाला गया। उनकी कहानियों का जिक्र या समीक्षा मेनस्ट्रीम के रचनाकारों के साथ ही की गई। इसके बाद जब ७५ के आसपास जब महिलाओं की एक बड़ी जमात ने अपनी धाक जमानी शुरु की तो समीक्षकों के लिए कोई विकल्प नहीं रह गया क्योंकि इसे अनदेखा करना संभव नहीं था। संवेदना के स्तर पर ये रचनाएं आष्चर्यजनक रूप से भिन्न थीं और इसमें मूलभूत अंतर वही था जो एक स्त्री और पुरूष की भावनात्मक और सोच के धरातल पर होता है।

दूसरी ओर कृष्णा सोबती की मित्रो मरजानी इससे अलग एक अक्खड़ और दबंग औरत की एकांतिक तस्वीर प्रस्तुत करती है जिसका सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता।

इस संक्रमण का में रची गई मित्रो या आपका बंटी की शकुन या उषा प्रियंवदा की राधिका जैसे सशक्त चरित्रों के बावजूद सही रुप में नारीवादी साहित्य या नारीवादी कहानियों की शुरुआत पिछले दो दशको से ही जानी जा सकती है। इसके कारण हमारे बदलते हुए समाज में निहित है। आज हमारा समाज ऐसा है कि पूंजीवाद तो उभर रहा है पर सामंती ढांचा पूरी तरह टूटा नहीं। आचार्य रामविलास शर्मा ने इस स्थिति की बड़ी सटीक व्याख्या की है। आज जो अछूतों पर अत्याचार दिखाई देते हैं, उन्हें आप शहरी या ग्रामीण नारी पर होने वाले अत्याचारों से जोड़कर देखिए। वे उन लोगों के द्वारा ज़्यादा होते हैं जो पुराने ढंग के सामंत नहीं है, जो नए पूंजीवादी किसान है। जिन घरों में दहेज को लेकर स्त्रियां जलाई जाती हैं, वे ज़्यादातर व्यापारी लोगों के घर होते हैं। जमींदार औरत को मारेगा -पीटेगा लेकिन जलाएगा नहीं क्योंकि बंधुआ मजदूर उसके लिए कीमत रखता है लेकिन जो व्यापारी वर्ग है, वह विवाह को भी एक व्यापार समझता है। एक माल

हमने खरीदा, उसमें मुनाफा नहीं , उसे अपदस्थ करने के तरीके ढूंढो या सीधे उसे खतम करो, दूसरा माल लाओ। यह व्यापारी जो उद्योगपति नहीं है, सामंतों से भी अधिक बर्बरता से व्यवहार करता है।

यह सच है कि हर समस्या का हल हम साहित्य में नही ढूंढ सकते पर यह भी सच है कि आज साहित्यकारों ने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में महिलाओं की समस्याओं की ओर ध्यान देना शुरु किया है। ममता कालिया की कहानी 'जनमी थी औलाद', चित्रा मुद्रल की 'प्रेतयोनि', मृदुला गर्ग की 'दुनिया का कायदा' या 'तीन किलो की छोरी', राजी सेठ की 'अनावत'या 'स्त्री', सूर्यबाला की ' सुमिन्तरा की बेटियां ' , ज्योत्स्ना मिलन की 'बा' , 'सुधा अरोड़ा की ' अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी ' या ' रहोगी तुम वही ' , नासिरा शर्मा की ' मेरा घर कहां ' नमिता सिंह , रमणिका गुप्ता , कमल कुमार , मेहरुन्निसा परवेज ,मैत्रियी पुष्पा की 'फैसला' या 'गोमा हंसती है' आदि कहानियों की एक लम्बी सूची है। पिछले बीस सालों में अगर कुल कहानियों के विषय का विभाजन करें तो हम पाएंगे कि सबसे ज्यादा कहानियां स्त्री के मुद्दों पर ही रची गई हैं । उपन्यास के क्षेत्र में स्त्री समस्याओं पर लिखे गए उपन्यासों की एक बेहद उर्वरा जमीन हिन्दी के रचनात्मक साहित्य में देखी गई है । कृष्णा सोबती की 'मित्रो मरजानी' , उशा प्रियंवदा की 'रुकोगी नहीं, राधिका' और मन्नू भंडारी की 'आपका बंटी' जैसे तीन प्रमुख बहुचर्चित और अधिकांश भारतीय भाषाओं में अनूदित इन तीन मुख्य रचनाकारों के बाद सन् १९८०-८५ के बाद हिन्दी में स्त्री विषयक उपन्यासों की जैसे बाढ़ सी आ गई । ममता कालिया का 'बेघर' और 'एक पत्नी के नोट्स ' (जिसमें एक मध्यवर्गीय पढ़ी लिखी महिला का भी अपने पति द्वारा एक सामान्य औरत की तरह ट्रीट किया जाना और गाहे बगाहे व्यंग्य का शिकार होना तथाकथित प्रगतिशील और पढ़े लिखे वर्ग को बेनकाब करता है) मृदुला गर्ग का 'अनित्य' (जिसमें दो महत्वपूर्ण स्त्री पात्रों में से एक - काजल एक फेमिनिस्ट प्राध्यापक की तरह उभरती है जो अनलिखे इतिहास को दुबारा लिखना चाहती है , भगतसिंह के सिद्धांतों पर विश्वास करती है और उसे पढ़ाती है हालांकि वह उनके कोर्स में नहीं है , संगीता जो एक वेश्या की बेटी है पर अपने सिद्धांत खोती नहीं , अपनी अस्मिता के साथ खड़ी होती है) मृदुला गर्ग का ' चितकोबरा ' और ' मैं और मैं ' (जिसमे एक औरत और एक लेखिका के दोनों पहलुओं की कश्मकश का बड़ी बारीकी से चित्रण किया गया है) और इन सबसे बढ़कर मृदुला गर्ग का ' कठगुलाब' (जिसमें स्त्रियों के इतने विभिन्न रंग रूप और शेड्स हैं कि स्त्री विमर्श की कई अवधारणाओं की पोथी बांची जा सकती है) चित्रा मुद्गल का ' एक जमीन अपनी ' और ' आवां ' (जिसमें एक सामाजिक कार्यकर्ता के जमीनी लड़ाई के संघर्षो का पहली बार हिन्दी साहित्य में इतना सचेत और बेबाक चित्रण हुआ है) मृणाल पांडे का ' पटरंगपुराण ' (जिसे पढ़कर लगता है कि पूरा एक शहर ऐसी औरतों के नजरिए से देखा - परखा और बयान किया जा रहा है जो अपने खिड़की झरोखे खोलकर घूंघट उलटाकर बड़ी पैनी निगाह से कस्बे में होने वाले हर क्रिया कलाप का जायजा ले रही हैं) मेहरुन्निसा परवेज का 'कोरजा ' (जिसमें आदिवासी परिप्रेक्ष्य में एक स्त्री की त्रासदी का वर्णन है) , सूर्यबाला का 'मेरे संधि पत्र ' , मंजुल भगत का ' अनारो ' ,'गंजी '(हिन्दी साहित्य में एक कामकाजी नौकरानी के रोटी रोजी के संघर्श के साथ साथ उसकी ताकत और स्वाभिमान को रेखांकित किया गया है) तथा ' खातुल '(हिन्दी में पहली बार अपने मुल्क से बेदखल हुआ किरदार मर्द का नहीं , औरत का है जिसे मुहाजिर बनाकर प्रस्तुत किया गया है । अफगानिस्तान से भागकर आई यह शरणार्थी एक कमसिन बच्ची है । जंग के तमाम वहशी हादसे और खौफनाक मंजर भुगतने के बाद भी वह अपना मुल्क छोड़कर भागना नहीं चाहती बल्कि उसे आजाद कराने में कुर्बान होना चाहती है ।) कमल कुमार का ' यह खबर नहीं '(जिसमें सत्ता और प्रभुताशाली वर्ग के बीच किस तरह एक प्रतिभाशाली लड़की की अस्मिता को कुचला जाता है , इसका रोमांचकारी यथार्थ वर्णन है) नासिरा षर्मा का 'एक और शाल्मली ',(जिसमें घर और बाहर में अपने अधिकार मांगती आजादी के बाद की उभरती एक अलग किस्म की स्वतंत्रचेता स्त्री है जो पति से संवाद चाहती है , बराबरी का दर्जा चाहती है , प्रेम की मांग करती है जो उसका हक है। इस पात्र का सृजन बेहद सूझबूझ से किया गया है) 'ठीकरे की मंगनी ',(बचपन में बिना पैसे के लेन देन के मंगनी हो जाती है और लड़का बड़ा होने पर शादी करने से मुकर जाता है। इस पर कद्दावर औरत टूटती नहीं , वह अपना एक घर बनाती है , एक वजूद हासिल करती है और मर्द के लौटने पर उसे दुबारा कुबूल नहीं करती) ' कुइयां जान ' (इस उपन्यास में पानी की समस्या केंद्र में है पर इस समस्या से रू-ब-रू होती हैं औरतें । इस उपन्यास का सबसे खूबसूरत पहलू है कि औरतों के सामाजिक सरोकार उभर कर आते हैं और औरतें पर्यावरण के मुद्दे पर बात करती हैं) राजी सेठ का 'तत्सम ' चन्द्रकांता का ' अपने अपने कोणार्क ' तथा 'कथा सतीसर ' गीतांजलि श्री का ' 'माई' जिसमें गांव कस्बे की एक औरत अपने बच्चों और परिवार के लिए कैसे अपने को तिल तिल होम करती है पर उसका मिटना भी उसके बच्चों में विद्रोह की चिनगारी और अपनी रीढ़ की हड्डी सीधी रखने का जज्बा जगा जाता है) और ' तिरोहित ' ' प्रभा खेतान का ' पीली आंधी ' तथा 'छिन्नमस्ता' (जिसमें परंपरागत दकियानूसी मारवाड़ी परिवार की एक लड़की का बागी निकल आना कैसे पूरे समाज को उसके खिलाफ खड़ा कर देता है - का एक संपूर्ण दस्तावेज है) मैत्रेयी पुष्पा का 'इदन्नमम' तथा 'चाक' मधु कांकरिया का 'सलाम आखिरी ' और 'सेज पर संस्कृत '(जिसमें जैन साध्वियों का

धर्म के नाम पर शोषण दबा छिपा कर रखा जाता है पर युवा पीढ़ी की एक जैन लड़की शोषण के खिलाफ उठ खड़ी होती है) अलका सरावगी का 'शेष कादम्बरी ', अनामिका का ' दस द्वारे का पिंजरा '(जिसमें पिछली शती की औरतों के कद्दावर होने का आज के परिप्रेक्ष्य में समूचा बयान है)

नारीवादी लेखन आज के समय की ज़रूरत है। आधुनिकता और उदार सोच के तमाम दावों के बावजूद स्त्री की सामाजिक स्थिति या उत्थान में कोई बड़ा क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं आया है। आज भी वे समझौतों और दोहरे कार्यभार के बीच पिस रही हैं। पुरुष सत्ता की नीवें हमारे समाज में बहुत गहरे तक धंसी हुई हैं। इसे तोडना , बदलना या संवारना एक लम्बी लड़ाई है। हर क्षेत्र में स्त्रियां अपनी अपनी तरह से अपनी लड़ाई लड़ रही हैं।

कथा साहित्य में भी स्त्री चेतना ने अपनी उपस्थिति पूरी गहराई और शिद्दत से दर्ज़ करवाई है पर हिन्दी साहित्य में तथाकथित स्त्री विमर्श इतने बौद्धिक स्तर पर है कि आम औरतों तक या उन औरतों तक - जिन्हें जागरूक बनाने की ज़रूरत है - यह पहुच ही नहीं पाता। यह काम साहित्य के स्त्री विमर्शकारों से कहीं अधिक महिला संगठन और ज़मीनी तौर पर उनसे जुड़ी कार्यकर्ताएं कर रही हैं।

कथा साहित्य में आप कहानी के कथ्य से अलग जाकर स्त्री सशक्तीकरण के संदेश नहीं दे सकते। कहानी लेखन की अपनी सीमाएं हैं। कहानी में हम ' जैसा है ' या ' जैसा होता है ' की स्थितियां ही अधिक दिखाते हैं , जबकि आलेखों में , टिप्पणियों में या छोटे छोटे एक पष्ठीय स्तंभों में हम स्त्रियों को ' जैसा होना चाहिए ' की प्रेरणा , हौसला या नारा भी दे सकते हैं।

फेमिनिस्ट शब्द हमारे यहां लगभग गाली के रुप में ही इस्तेमाल किया जाता है। बहुत सी महिलाएं भी इस विशेषण से परहेज करती है। जबकि फेमिनिस्ट होने का एक सीधा सादा अर्थ है औरतों के प्रति एक जुड़ाव एक सरोकार... और कोई भी पढ़ा लिखा संवेदनशील व्यक्ति एक शोषित कौम के हक में खड़े होने से इनकार नहीं कर सकता।

स्त्री विमर्श को लेकर हमारे यहां यानी हिन्दी समाज में बहुत सी भ्रांतियां हैं। सबसे बड़ी भ्रांति यह है कि स्त्री विमर्श को वीमेन लिब यानी स्त्री मुक्ति का पर्याय मान लिया गया है। मुक्ति में भी स्त्री के लिए देह की मुक्ति को सर्वोपरि मुक्ति माना गया। स्त्री सशक्तीकरण - स्त्री जागरुकता का प्रसार करने के लिए एक कारगर औजार है।

समकालीन कथा साहित्य के फलक पर औरत की स्थिति के प्रति इस जागरुकता साथ ही एक छद्म किस्म के लेखन को भी नारीवादी साहसिकता या बोल्डनेस के नाम पर प्रश्रय दिया जा रहा है। हमारे समाज में नारी मुक्ति के बारे में दो मिथ प्रचलित हैं- एक तो यह कि नारी मुक्ति का तात्पर्य पुरुष आधिपत्य से मुक्ति है। दरअसल यह मुक्ति सामाजिक संरचना और रुढ़िगत संस्कारों से है। पुरुष वर्चस्व तो उस सामाजिक संरचना की ही एक प्रशाखा है जिसके पनपने और फलने-फुलने के लिए पूरा का पूरा सामाजिक-सांस्कृतिक माहौल 'टेलरमेड' है।

नारी मुक्ति के बारे में एक दूसरा मिथ यह है कि आधुनिक महिला को अपनी देह पर अधिकार और देह की स्वतंत्रता चाहिए। यह निष्पति भी पुरुष विचारकों की ही दी हुई है, जिसके कारण औरत से जुड़े बहुत से अपेक्षाकृत अहम मसलों को दरकिनास कर दिया गया है। इस छद्म तले यौन के उथले सवालों से उलझती स्त्री पुरुष के यौन सम्बन्धों की कुछ सामान्य कहानियों को बड़ी तेज़ी से साथ उछाला जा रहा है। उदाहरण के रुप में मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास ' अल्मा कबूतरी ' या ' चाक ' में रति प्रसंगों के अनावश्यक विस्तार को लेखिका की बेबाक बयानी और साहस का प्रतीक माना गया जबकि इस तरह के सपाट और उथले वर्णन कला के अभाव में सिर्फ पुरुषों द्वारा रचित प्रसंगों के समकक्ष खड़े होने के स्थूल मकसद से गढ़े गए हैं।

विज्ञान मनुष्य की यांत्रिक और बौद्धिक संरचना का शास्त्र है पर साहित्य मनुष्य की मानवता को बचाए रखने की कोशिश का दस्तावेज है। नारी मुक्ति भी मानवता से अपने आप को जोड़ने का और मनुष्य के रुप में स्वीकार किए जाने का अभियान है। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी में नारीवादी साहित्य के लेखन की शुरुआत हो चुकी है। इसे सही परिप्रेक्ष्य में देखे जाने की आवश्यकता है।

अपनी बात के अंत में मैं आपको एक छोटा सा उदाहरण देना चाहती हूं।

वैज्ञानिक कीड़े मकौड़ों और पशु पक्षियों पर कुछ प्रयोग करते हैं। एक वैज्ञानिक ने दो मेढक लिए। एक मेढक को उसने काफी गरम पानी में छोड़ा , पानी के उस गरम तापमान को झेल पाने में असमर्थ वह फौरन कूद कर बाहर आ गया। अब उसने दूसरे मेढक को ठंडे पानी में डाला , मेढक उसमें आराम से तैरता कूदता रहा , उसने बाहर छलांग नहीं लगाई। वैज्ञानिक ने धीरे धीरे पानी का तापमान बढ़ाया और उसे धीरे धीरे बढ़ाते हुए बहुत गरम कर दिया। मेढक उस गरम होते तापमान का धीरे धीरे अभ्यस्त हो चुका था और जब उसका शरीर तापमान नहीं झेल पाया तो वह लगातार बढ़ते तापमान को झेल पाने में असमर्थ मर गया।

औरतों के साथ यही हुआ है। सदियों से उनका अनुकूलन किया गया है। वह हर तरह के तापमान की इस कदर अभ्यस्त हो जाती हैं कि एक नये घर के नये माहौल में नये लोगों के बीच धीरे धीरे बढ़ते तापमान के साथ तालमेल बिठाना सीख जाती हैं और यह तालमेल अन्ततः उनकी मर्यादित शोभायात्रा में उनकी मांग में सिंदूर के रूप में उनकी सजी हुई अर्थी में दीखता है।

लेकिन आज समय ने करवट बदली है। सभी औरतें मरती नहीं। वे देर से ही सही पर बढ़ते हुए तापमान को पहचानना सीख गई हैं। खतरे की आहट को सुन रही हैं। अपने जिन्दा होने के मूल्य को समझ पा रही हैं। मानसिक यातना और बारीक हिंसा को पहचान कर उन पर सवाल खडे करती हैं और बाहर निकल आने का हौसला भी दिखाती हैं। अपनी खोयी हुई अस्मिता और मानवीय पहचान को दुबारा संवारती है। इस तरह वे अपना जीवन संवारने वाली औरतों के कारवां में शामिल हो जाती हैं। और यह कारवां दिन पर दिन बढ़ता जाएगा , इसमें संदेह नहीं।

स्त्री सशक्तीकरण धीरे धीरे बढ़ते इस असहनीय तापमान से स्त्री का मोहभंग करने और उसे जागरूक बनाने और उसे एक पहचान देने की प्रक्रिया का नाम है।

•••

Post-Independence Women's Novel in English

The Contemporary Indian English Bourgeois Feminist Fiction

Dr. Shoba Venkatesh Ghosh



In her essay, "The Heroine's Progress in Recent Women's Fiction," Rajeswari Sunder Rajan uses the term "bourgeois feminist fiction" to characterise a considerable and steadily growing genre in the contemporary Indian English literary landscape. This is a particularly apposite terminology, for it signals towards at least two significant facts about the site from which such writing emanates – the near-homogeneous class location of the writers (and their subjects) as well as their (explicit or implicit) contract with contemporary feminism. Anita Desai's *Cry the Peacock* (1963) was only the first of what has evolved as a distinctive novelistic genre, and which is distinguished by names like Shashi Deshpande, Githa Hariharan, Manju Kapoor and Sunetra Gupta. While acknowledging that this body of work is impressive both in terms of quantity and literary achievement, it seems equally necessary to explore and subject to critical scrutiny the reasons for the prolific output as well as the value of the achievement in specifically feminist terms.

Malashree Lal's study of Indian English women's fiction is posited on her reading of these authors as a "special displaced category in their own country." Her argument seems to be that the accusations of elitism thrown against Indian English fiction in general is too sweeping, as in a deeply patriarchal society like India, "the woman's position is not a position of 'privilege', particularly where creative writing about one's own experience becomes an urgent need". While acknowledging the impress of class on this writing, Lal seems to want to rescue these writers from the charge of "privilege" by focussing on an almost exclusively gender-based conception of male privilege and female displacement/subalternity. We could perhaps, invert her argument, and suggest that despite an almost inevitable gender displacement, this class of women (as authors and subjects) might enjoy certain compensatory privileges not available to, say, a woman from the domestic-worker class. Indian English women writers can be seen a 'displaced category' within their own class, but it is arguable that they are so in as generalised a field as "in their own country." Arguing a mandatory subalternity for all women is to occlude the fact that women of privilege not only exert power over other women (and men), but are also (however indirectly) complicit in the perpetuation of social hierarchies.

The proliferation of this genre must be framed within the growth of Indian English fiction in general; it must also be seen in relation to the resurgence of late-twentieth century feminism. That the novels of Desai, Deshpande or Hariharan are driven by a feminist impulse is indisputable. Their fiercely women-centric preoccupations, their concentration on women's dissatisfaction and even anger against restrictive conditions, their underlining of the urgency for self-expression by women, and their engagement with the issues of women's identities as imposed and/or experienced, all derive from a certain 'feminist' consciousness resulting from the growth of the women's movement, both western and Indian. However, these writers cannot be called 'feminists' in the same way as can the Afro-American writers like Morrison, Angelou and Walker whose writings emerged from a radical and personal involvement in Black and women's rights activism. Or, closer to home is the example of Mahasweta Devi. One is not suggesting that a feminist writer must be an activist too (it could be argued that writing is a form of activism). However, what can be explored is how far the Indian English novel is able to expand its class boundaries and place the 'woman's' issue within larger frameworks.

The literary lineage of these texts must be traced to the Anglo-American 'confessional' novel of the 1960s

and 70s by writers like Doris Lessing, Margaret Drabble, Iris Murdoch, Marge Piercy or Marilyn French. But after the anger and self-exposure and the translation of the personal into the political, many of these western writers moved towards forms of writing that looked beyond individual suffering and healing. This was, perhaps, the inevitable result of an awareness that the form had served its purpose and was in danger of solidifying into a feminist stereotype – " angst-ridden, preoccupied with individual and often autobiographical suffering, 'brave,' navel-gazing, politically obvious and unsubtle" in the words of Nicci Gerrard[3]. While these novels continue to be churned out, Gerrard points out that there has been, alongside, a proliferation of alternative genres in the writing by women in the west. For instance, the science fiction has been recognised and exploited as a form conducive to feminist invasion and to the needs of what Maureen Duffy calls the " hypothesising imagination" (Cited in Garrard, 142). The most compelling science fiction, written by writers like Ursula Le Guin, Joanna Russ, Maureen Duffy, Marge Piercy and Margaret Atwood, uses the form as an analysis of feminism, a critique of patriarchy and an examination of potential possibilities or dystopias. In India, the only woman writer who has explored the possibilities of this genre (though in dramatic form) is Manjula Padmanabhan whose *Harvest* moves beyond a preoccupation with individual misery, to explore the urgent issues of the turn of the century – such as the ethics and dystopic implications of technologies (specially bio-technology), First World-Third World politics, the disturbing realities of globalisation, the organ-traffic to the West where the perpetuation of youth and health is made possible through the 'harvesting' of Third World bodies, and the specific consequences of all these on Third World women. But Padmanabhan's work remains an isolated achievement. The Indian English fiction by women remains, for the most part, locked within the personalised and 'confessional' mode of the autobiographical fiction.

The "bourgeois feminist" novels under discussion can be variously labelled middle-class "emancipatory" novels, novels of self-discovery, or autobiographical fictions of self-exploration. They may draw from the realist female bildungsroman tradition (as in the case of Deshpande) or, to a lesser or greater extent, from the Romantic topoi of the feminist novel of awakening (Gupta's *Memories of Rain*). The Romantic gothic tradition in women's writing also leaves its traces in the near phantasmagoric inner lives of the protagonists of Desai, Hariharan and Gupta, as well as in a certain conception of an innately hyper-responsive feminine sensibility that thrashes and strains against the crippling pressures of patriarchal conventions and sometimes flirts with the lure of madness or self-annihilation as ways of escape. The narrative trajectory typically traces an encounter with the past, as the self-exploring subject struggles towards a coherent insight into itself. A particular event or a generalised and crippling sense of anxiety provides the catalyst for a confrontation with the past, and an attempt to gain an understanding of one's personal history which can lead to an increased capacity for self-determination. Marriage, the narrative closure of the conservative female romance, becomes not the endpoint of the female bildung, but its very antithesis, the starting point. From its disenchantments and frustrations are born the desire to synthesise one's life, to look back for a pattern. In as much as identity is experienced by the protagonist as contradictory and confusing, and life as something outside her control, the novels avoid strongly teleological structures, opting instead for the episodic, fragmented or temporally non-linear narrative whose organising principle is provided by the associations of the experiencing subject. Clearly, women whose social status has been largely defined by a shift from a father's to husband's tutelage are unlikely to perceive their lives in terms of a meaningful and self-directed progression. It is through the narrative, the 'telling' as it were, that the subject strains towards synthesis and pattern. These fictions share a characteristic of the female autobiographical narrative – they continually refer back to the perceptions of the female subject as their source and authority. There is a central concern with the problematic of subjectivity, with the psychological in the context of gender politics – precisely, with the 'politics of the personal.'

In the Indian literary landscape, Anita Desai's was a sole voice in this genre in the 60s and 70s. It was in the 80s and 90s that the personalised confessional feminist novel in English consolidated itself. As noted earlier, the basic codes have not changed much since Desai's earliest experiments. The concern is still the

individual middle-class female subject. The geography is still the family. The ‘resolutions’ are still being worked out in purely personalised terms. Above all, the constituency of readers they address themselves remains the ‘Babu’[4] woman, tacitly assumed to be representative of the ‘typical’ Indian woman.

In this context, I would like to briefly refer, in conclusion, to some recent works by women novelists that have gone beyond the “confessional” mode and the geography of the family to explore larger issues, particularly those relating to the nation, caste and class hierarchies, and the legacies of colonialism. For all its over-written effusiveness, Arundhati Roy’s *The God of Small Things* is a significant work in that it is as much about the recent history of Kerala as it is about the history of a family. Regional politics, caste and class allegiances and distinctions, the culture of intolerance of the ‘other’ or the social ‘transgressor’ frames the narrative of proscribed love and of the brutal precipitation into adulthood of its ‘zygotic twins’ protagonists. Kiran Desai’s *The Inheritance of Loss* is a vast novel that also uses the perspective of a protagonist at the threshold of the adult world to explore the difficult and unresolved legacies of colonialism, the contestation of monolithic notions of the nation through localised separatist movements, and the desires and disappointments of the migrant in a world where boundaries have become at once more porous and more defined.

Bibliography :

1) R ajeswari Sunder Rajan. “The Heroine’s Progress in Recent Women’s Fiction.” IIC Quarterly: Special issue on ‘Women and the Family.’ 23, 3&4, Winter 1996. 222-238. (All subsequent references and page numbers are incorporated in the body of the chapter.)

2) Malashri Lal. The Law of the Threshold: Women Writers in Indian English. Simla: Indian Institute of Advanced Study, 1995. 9. (All subsequent references and page numbers are incorporated in the body of the chapter.)

3) Nicci Gerrard. Into the Mainstream: How Feminism Has Changed Women’s Writing. London: Pandora, 1989. 107. (All subsequent references and page numbers are incorporated in the body of the chapter.)

4) This is a term used by Tabish Khair in his study Babu Fictions: Alienation in Contemporary Indian English Novels. New Delhi: Oxford

•••

स्त्रीवादी साहित्य

प्रा. पुष्पा भावे



साहित्याचा ऐतिहासिक विचार करताना कालखंड कसे मानावेत हा प्रश्न वादग्रस्त आहे. साहित्य चर्चेतील कालखंड केवळ वाङ्मयीन संदर्भाने मानावेत असा एक आग्रही विचार मांडला जातो. पण साहित्याची संहिता निर्माण करणारा मनुष्य एक विशिष्ट काळात, एका विशिष्ट सांस्कृतिक वर्तुळात, एका समाजात जगत असतो. त्याची विचारपद्धती, कल्पना शक्ती आणि संवेदना त्या समाजाने घडत असते. त्या समाजातील पूर्वीच्या पिढ्यांनी निर्माण केलेल्या साहित्यकृती आणि इतर कलाकृती यामुळे त्याची अभिरूची संस्कारित झालेली असते. हे सारे जे एका कलावंताला त्याच्या जन्माने मिळालेले असते, त्या मातीतूनच तो नवे निर्माण करीत असतो. वाङ्मयीन इतिहासाने समग्र इतिहासाची भूमिका मान्य करणे म्हणजे साहित्यकाच्या स्वतंत्र प्रतिमेवर अन्याय करणे नव्हे हे लक्षात घ्यायला हवे. एकाची सांस्कृतिक पर्यावरणात दोन भिन्न प्रवृत्तीचे साहित्यिक लिहित असतात याचाच अर्थ समाज आणि साहित्य यातील संबंध प्रतिकृतीवादी नाही हे स्पष्ट आहे. पण हे जसे स्पष्ट आहे तसे कोणत्याही वाङ्मयीन परंपरेकडे नजर टाकता, विशिष्ट काळात विशिष्ट वाङ्मयीन रूपे अधिक योजली यातात, अर्थपूर्ण होतात हेही खरे.

मराठी वाङ्मयाच्या ऐतिहासिक चर्चेत आपण 'स्वातंत्र्योत्तर' आणि 'साठोत्तरी' असे दोन समाजसापेक्ष कालखंड मानलेले आहेत. आपल्या या चर्चासत्रात आपण स्वातंत्र्योत्तर हा कालखंड निवडला आहे. आणि त्या बरोबरचं भारतीय साहित्य ही संकल्पनाही निवडली आहे. वाङ्मयाची निर्मिती त्या त्या प्रदेशातील भाषेत होते हे खरे असले तरी भारतीय साहित्य ही संकल्पना योजणे शक्य व्हावे असे चित्र भारतीय भाषेतील समकालिन वाङ्मयात दिसते. स्वातंत्र्योत्तर काळात विशेषतः नेहरूयुगात ही भारतीयात्वाची कल्पना वेगवेगळ्या संस्थाकारणात आणि उपक्रमात दिसते. 'साहित्य अकादमी' व 'संगीत नाटक अकादमी' यांची निर्मिती ही नव्याने स्वतंत्र झालेल्या भारतातील ठळक सांस्कृतिक कृती होती. भारतीय साहित्य या कल्पनेप्रमाणे 'हिंदी राष्ट्रभाषा असली तरी प्रत्येक प्रादेशिक भाषेला आणि वाङ्मयाला स्वतःचा चेहरा असतो. ही रास्त भावना होती. भाषावार प्रांतरचना, त्यासाठी झालेल्या विविध चळवळी यामुळे १९६० पर्यंत प्रादेशिक भाषकांच्या अस्मितेला व्यक्त व्हायला अवकाश मिळाला होता.

'साठोत्तरी' हा शब्दप्रयोग मराठी साहित्यचर्चेत रूढ होण्यास वाङ्मयीन कारणे होती तसेच संयुक्त महाराष्ट्राच्या निर्मितीनंतरचे साहित्य हेही कारण होते. स्वातंत्र्यानंतरचे शिक्षणप्रसाराचे कार्य लक्षात घेता, अनेकवर्षे मूक असणारी जनता बोलू, लिहू लागली. संहिता निर्माण करू लागली. मराठी लेखकांच्या - कवींच्या आडनांवामध्ये खूपच वेगळेपणा आला. साहित्याची शब्दकळा बदलली. वाचकवर्गाचा विस्तार होऊ लागला.

स्वातंत्र्यपूर्वकाळापासून गांधीवाद, आंबेडकरवाद आणि मार्क्सवाद या विचारव्यूहांचे, मूल्यजाणीवांचे संस्कार साहित्यजगतात जाणवत होते. वाङ्मयीन जाणीवांमध्ये परिवर्तन होत होते. मर्ढेकरेयुगातील काव्य, कथा, सौंदर्यशासन यांनी एक नवीनता वातावरणात आणली. दुसरे महायुद्ध आपल्या भूमीपासून दूर घडत होते. पण या महायुद्धाचे खोलवर परिणाम जगभराच्या साहित्यावर झाले. कारण या युद्धाने मानवीय मूल्यांविषयी प्रश्न निर्माण केले. आधुनिक काळात अपरिहार्य असणाऱ्या शहरीकरणाचे परिणाम जाणवत होते. कुटुंब आणि व्यक्ती यातील समीकरणे वेगाने बदलत होती. यामुळे हे संक्रमणकाळातील व्यमिश्र प्रश्न सर्वच भाषांतील वाङ्मयात जाणवतात. अर्थात् प्रत्येक प्रादेशिक वर्तुळातील संस्कृतिविशिष्टता प्रश्नांचे कांगोरे निर्माण करीत होती. वेगवेगळ्या प्रवृत्तीचे लेखककवी परंपरा आणि नवता याचा अन्वय लावीत होते.

स्वातंत्र्य मिळालेल्या समाजासमोर स्वतःच्या ओळखीचा प्रश्न फार महत्त्वाचा असतो. महाराष्ट्रात वसाहतिक काळातच यावर विचारमंथन झाले होते. राष्ट्र, धर्म, समाजधारणा यावर एकोणसावे शतर ते विसावे शतक चर्चा चालूच होती. आपण काहीवेळा इंग्रजांच्या चष्म्याने स्वतःला आणि पूर्वेच्या संस्कृतीला पहात होतो. Orientilist प्राच्यविद्याविशारद ज्या भाषेत चर्चाविश्व उभे करीत होते. यामागेही युरोपीयच इतिहासाचा प्रभाव होता. पण त्याची चर्चा इथे करणे प्रस्तुत होणार नाही. हा मुद्दा इथे उपस्थित करण्यासाठी काही कारण आहे. स्वातंत्र्यानंतर आपल्या मनोधर्माने आत्मसात केलेले वाहतिक संस्कार दूर सारून भारतीय जनता स्वतःकडे पाहू लागली. वाङ्मयीन संस्कार आणि प्रभाव इंग्रजी साहित्याचे होते, स्वातंत्र्यानंतर युरोपातील साहित्याचे वाचन आणि प्रभाव वाढले. हे सारे सर्वांसाठी एकाचवेळी घडत होते असे नाही. पण काळात पुढेमागे हे सारे घडत होते. समाजातील वेगवेगळे गट सामाजिक उतरंडीतील दिलेले स्थान

नाकारून नवा अवकाश शोधीत होते. अशा नवा अवकाश शोधणाऱ्या गटामध्ये स्त्रिया आणि दलित यांनी वाङ्मयनिर्मितीत विशेष स्थान मिळविलेले दिसते.

स्वातंत्र्यपूर्वकाळातच, विशेषत: स्वातंत्र्याच्या चळवळीत जी नवी मूल्ये निर्माण झाली त्यामुळे माणसांना वर्णव्यवस्थेने दिलेल्या स्थाना विरूद्ध बंड करण्याची प्रेरणा मिळाली. गुलामी-स्वातंत्र्य याचा अनेकस्तरीय विचार सुरू झाला. या चर्चा, हे विचारवव्यूह कधी अन्य देशातील चळवळीतून निर्माण झाले तर कधी भूतकाळाच्या रोखठोक विश्लेषणातून निर्माण झाले. आज ज्यांना आपण देशी म्हणू असे विचार म. ज्योतीबा फुले, गांधी-विनोबा यांच्या मांडणीत दिसतात. तर बाबासाहेबांच्या विश्लेषणात वस्तुस्थिती आणि मूल्यविचार यांचा समावेश दिसतो.

स्त्रिया आणि दलित या समाजगटाचा विचार करताना वर्णव्यवस्थेने ज्यांना शिक्षणापासून आणि अन्य मानवी हक्कांपासून वंचित ठेवले त्यांना मानवी स्थान मिळवून देणे हा हेतु होता. या विषयीच्या चळवळी स्वातंत्र्यपूर्वकाळातच सुरू झाल्या, या काळाला आपण सुधारणेचा कालखंड मानतो. स्वातंत्र्योत्तर काळात स्त्रीमुक्ती, दलितमुक्ती या संकल्पना योजतो. प्रस्तुत चर्चासत्रात आपल्याला स्वातंत्र्यपूर्वकाळात मुक्तीचे विचार दिसतात आणि स्वातंत्र्यपूर्वकाळात चर्चासत्रात कल्याणकारी, सुधारणवादी विचार दिसतो याची दखल घ्यावी लागेल.

स्त्रियांना शिक्षण मिळाले-आपल्याला विचार करता येतो हे कळले आणि त्यांनी लेखनाला प्रारंभ केला. लिहित्या पुरुषांच्या साहित्यात बाईचा सुर उमटत नाही याची खंत पूर्वीच जाणवली होती. म्हणून हरीभाऊ आपट्यांपासून मामा वरेरकरांपर्यंत साऱ्यांनी स्त्रीला निवेदक करून आत्मचरित्रात्मक कादंबऱ्या लिहिल्या. पण स्त्रियांचे अनुभव इतके वर्ष अस्फुट राहिले होते की स्त्रिया लिहू लागल्या, ताराबाई शिंदे यांचे 'स्त्रीपुरुषतुलना' आले. ज्यात सुधारणवादही आहे, धर्मचिकित्सा आहे आणि पुरुषांनी लिहिलेल्या कादंबऱ्यांचे स्त्रीवादी वाचनही आहे. (एक मात्र ध्यानी धरायला हवे की याकाळांतील बरीच अशी पुस्तके स्वातंत्र्यानंतर प्रकाशात आली - चर्चेत आली.)

स्वातंत्र्यपूर्वकाळात काशीबाई कानिटकर, विभावरी शिरूरकर, प्रेमा कटंक, गीता साने अशा कादंबरीकार स्त्रियांनी समाजधारणेला प्रश्न विचारले, प्रा. फडके यांच्यासारख्या लोकप्रिय कादंबरीकाराच्या तंत्रालाही प्रश्न विचारले. मराठी आत्मचरित्रात याकाळात स्त्रियांचे योगदान मोठेच होते. बंगाल आणि महाराष्ट्र या दोन प्रांतात स्त्रियांच्या आत्मचरित्राने, बाई केवळ गरीब बिच्चारी अन्यायाची बळी नाही ती विचार करू शकते आणि स्वतंत्र कृतीही करू शकते हे सिद्ध केले. बाईच्या नजरेने कुटुंबाकडे, समजाकडे नव्याने पाहिले गेले आणि महत्त्वाचे म्हणजे स्त्रियांनी आत्मचरित्रातील 'मी' स्वतंत्रपणे घडविला. स्त्रियांचे पत्रलेखन, आत्मचरित्रलेखन हा स्त्रीवादी समीक्षेत गाभ्याच्या चर्चाविषय झालेला आहे. आपल्या चर्चासत्रातील चर्चोविषय झालेला आहे. आपल्या चर्चासत्रातील चर्चेचाही तो एक महत्त्वाचा घटक व्हावा.

स्त्रीवाद, स्त्रीवादी लेखन, स्त्रीवादी समीक्षा याबरोबरच स्त्रीवादी वाचनाला विशेष स्थान आहे. प्रत्यक्ष स्त्रीवादी लेखनाचा वा वाचनाचा विचार करण्यापूर्वी आपल्याला 'स्त्रिया आणि ज्ञान' हा मूलभूत विचार करणे अपरिहार्य आहे असे मला वाटते.

स्त्रियांच्या ऐतिहासिक दमनाची मांडणी स्त्रीवादी करीत असला आणि त्यासंदर्भात तो वस्तुस्थिती बदल पाहणारा राजकीय व्यूह असला तरी स्त्रीवाद केवळ स्त्रियांचा विचार करीत नाही. किंबहुना स्त्रीवाद ही जगाकडे पाहणारी, त्याचे नवे आकलन करू पाहणारी परिसृष्टी आहे. वस्तुस्थितीविषयी तीव्र नाराजी आणि जग बदलण्याचे स्वप्न या दोन्हीच्या मुळाशी मूल्यमान अपरिहार्यपणे असते. ज्या वादाला वा वादाशी बांधील असणाऱ्या समुदायाला नवी तारतम्यदृष्टी आहे, त्यांना अपरिहार्यपणे तत्त्वज्ञानाचा पाया असावा लागतो. कोणत्याही विषयाला अमूर्त तत्त्वज्ञान असते, पण हे वर्तमानातील अग्रहक्कांनी घेरलेल्या सर्व कार्यकर्त्यांना जाणवेल असे नाही.

ज्ञानप्रक्रिया आणि तत्त्वज्ञान या संदर्भात स्त्रीवादाची आणि स्त्रियांची एक विशेष परिस्थिती होती. वर्षानुवर्षे ज्ञानापासून वंचित असणाऱ्या स्त्रियांना ज्ञान आणि ज्ञानप्रक्रियेशी नव्याने अन्वय जुळवावा लागला. ज्ञान आणि ज्ञानचिकित्सा तुमच्या चळवळीच्या राजकारणापासून दूर ठेवा कारण ती पुरुषसत्ताक आहे असे त्यांना सतत सांगण्यात आले तर असंख्य मान्यवर पुरुष विचारवंत 'आमचे तत्त्वज्ञान वैश्विक-मानवी आहे.' असे सांगत होते. अर्ध्या मानवजातीचा विचार न करता आपण सर्वसामान्य विधान करतो आहोत यात काहीतरी मूलभूत चूक आहे असे त्यांना वाटत नव्हते. ज्ञानावर असणारी पुरुषी मक्तेदारी ही अराजकीय थोडीच होती? ज्ञानाप्रमाणेच शिक्षणव्यवस्था, अभ्यासक्रम, अभ्यासपद्धती यासाऱ्यांवरच पितृसत्ताक आधिपत्य होते. त्यामुळे वस्तुनिष्ठ म्हणून गौरविलेले ज्ञान एकाच मानवसमूहाच्या दृष्टिकोनातून पारखलेले आणि मांडलेले होते. यालाच स्त्रिया 'जेंडरबायस' वा 'लिंगांधळेपणा म्हणतात 'स्त्रीअभ्यास' वा Women's Studies या नावाने ओळखली जाणारी ज्ञानशाखा जगभराच्या स्त्रियांनी निर्माण करून विश्वविद्यालयीन अभ्यासात हस्तक्षेप केला. ही सारी चर्चा करताना एक महत्त्वाचा मुद्दा ध्यानी घ्यायला हवा की स्त्रीवाद हा एकाकार (Monolith) नाही. प्रत्येक समुदायाच्या

समाजातील आणि इतिहासातील स्थानाप्रमाणे (Location) त्या त्या समुदायातील स्त्रियांचे दर्शनतारतम्य वेगळे असणार. त्याप्रमाणे वेगवेगळ्या स्त्रीवादाची उभारणी झाली. पण एका स्त्रीवादी लेखिकेने म्हटल्याप्रमाणे - '' आम्ही साऱ्या काचेच्या खोलीत रहणार नाही. आम्हाला स्वतःचा अवकाश हवा आहे. पण इतरांबरोबरचा संवादही हवा आहे.''

स्वातंत्र्यत्तर काळातील स्त्रीवादी साहित्याचा अभ्यास करताना वा करू इच्छिताना हे लक्षात घ्यायला हवे की प्रत्येक स्त्री स्त्रीवादी नसते. साहित्यनिर्मितीची प्रक्रिया आणि एखाद्या तत्त्वज्ञानाची ओळख वा स्वीकार यातील अन्वय फार गुंतागुंतीचा असते. लेखनाकडे व्यावहारिक यशाच्या दृष्टिकोनातून पाहणाऱ्या लेखिका पुरुषलेखकांशी स्पर्धा करणारे लिहितात, तेव्हा त्या पुरुषसत्ताक मूल्यांचा स्वीकार करून लिहितात. तर कोणा लेखिकेच्या लेखनाछत नकळत आत्मसात केलेली परंपरागत मूल्यें आढळतात. काही लेखिकांच्या लेखनात व्यक्तिपरतेचा सूक्ष्म ओघ दिसतो.

काव्याच्या प्रांतात स्त्रियांचा आत्मस्वर विशेष उमटलेला दिसतो. इंदिरासंरापासून प्रज्ञा पवारांपर्यंत कवितेतील अभिव्यक्ती स्त्रियांची बदलती शब्दकला आणि प्रतितासृष्टी याची चर्चा आपण करणार आहोत. स्त्रीसाहित्यात आणि दलित साहित्यात वेदनेचा स्वर काव्यात व्यक्त होणे साहजिक आहे. दोन्ही साहित्यात आत्मकथने प्रभावी ठरली. पण या तुलनेने सामाजिक द्रव्य जेथे महत्त्वाचे आहे त्या कादंबऱ्या आणि नाट्यसंहिता यांची निर्मिती कमी का होते? स्त्रियांच्या लेखनात कल कादंबरीकडे का असतो? याचीही चर्चा अपरिहार्य आहे.

स्त्रियांच्या स्वातंत्र्योत्तर लेखनाविषयी एक तक्रारीचा सूर सतत ऐकू येतो की स्त्रियांच्या कथाकादंबऱ्यातील स्त्रीपुरुषसंबंधाचा अविष्कार औचित्यभंग करणारा आहे. या आरोपाचा पृष्ठभागावरचा अर्थस्तर बाजूला करून पाहिले असता काय दिसते? एकतर स्त्रियांच्या कथाकादंबऱ्यातील कथनशैलीचा संदर्भ लक्षात ना घेता वाचन केले जाते किंवा परंपरेने नियंत्रित केलेल्या रतिप्रेरणेचा, आज स्त्री नवा अन्वय लावीत आहे. तिला स्वतःच्या नजरेने स्त्रीपुरुष नाती नव्याने पाहायची आाहेत हे लक्षात घेतले पाहिजे. स्त्रियांचे लेखन आत्मनिष्ठेकडून आत्मकेंद्रिततेकडे वळते असाही आरोप केला जातो. पण कलम देसाईंच्या कादंबऱ्यातील आत्मशोध आणि सामाजिक इतिहासाचे भान यातील दुहेरी पेड ध्यानी घ्यावा लागेल. गौरी देशपांडे, सानिया यांचे कथात्म वाङ्मय रूपकस्वरूप असल्याने ते उलगडून पहावे लागेल. आजच्या लेखिकांमध्ये मेघना पेठे, कविता महाजन, नीरजा यांच्या अनुभव घेण्याच्या पद्धती आणि कथनाची रूपे यातून मराठी कथनात्म वाङ्मयाला काय मिळाले याचा वेध घ्यावा लागेल. तारा भवाळकर, सुकन्या आगाशे यांनी केलेले परंपरेचे स्त्रीवादी वाचन पाहावे लागेल.

स्वातंत्र्यपूर्व स्त्रीवादी लेखन आणि स्वातंत्र्योत्तर लेखन असा विचार करताना मी पूर्वीच म्हटल्याप्रमाणे वासाहतिक काळ आणि उत्तरवासाहतिक काळ असा फरक करता येतो का? 'सबाल्टर्न स्टडीज्' (दुबल्यापिचल्या लोकांचा अभ्यास) याचा प्रभाव काय आहे? सत्तरीच्या दशकातील वाङ्मयसमीक्षेच्या नवनव्या पद्धतींचा कोणता संस्कार आपल्या लेखनात दिसतो? दलित स्त्रीवाद आणि बहुजनांच्या जागृत झालेल्या प्रेरणांचा कोणता प्रभाव आहे? जागतिकीकरणाच्या लाटेत स्त्रीवादी भारतीय साहित्य कोठे आहे? अशा अनेकानेक प्रश्नांची चर्चा आपल्याला या सत्रात करायची आहे.

या चर्चासत्रातील चर्चेची दिशा केवळ आणण्याची न राहता तात्त्विक रहावी यासाठी मी थोडी तपशीलमुक्त चर्चा केली. आपण सारे ही चर्चा पुढे न्याल अशी आशा आहे.

•••

सङ्गणकविज्ञाने संस्कृत-रचनानां महत्त्वम्

डॉ. चंद्रगुप्त वर्णेकर



सारांश :

आधुनिके सङ्गणकविज्ञाने संस्कृत-रचनानां महत्वं देशविदेशेषु वैज्ञानिकैः भृशं प्रतिपद्यन्ते। विदितं यदेकमेवोपकरणमिदं स्यात् यस्य सञ्चालनाय सुनियमबद्धा - भाषारचनायाः आवश्यकता वर्तते। एवं भाषारचनायाः विज्ञानतन्त्रतः अपेक्षितानि लक्षणानि अत्र प्रस्तुतानि सन्ति। नूनमेभिः लक्षणैः अभिजाता संस्कृतरचना सङ्गणकविज्ञानक्षेत्रे महत्वपूर्णा वर्तते इति नवविज्ञानऋतं भवितुमर्हति। एतस्य बृहद् गवेषणविषयस्य सद्यस्तनीयं महत्त्वम् अवलक्ष्य ''सङ्गणकीय - संस्कृतम्'' विषयमधिकृत्य अभ्यासवर्गाः प्रत्येक विद्यापीठे प्रारभन्तु इत्येव संसूच्यते अस्मिन् अखिल-भारतीय-सम्मेलनावसरे।

येषां रतिः सङ्गणकीयशास्त्रे
ये देववाणीमभिकामयन्ते।
तेषां मनोबुद्धिविकासकार्ये
सम्मेलनेऽस्मिन् भवतु प्रयासः॥

शोधनिबन्धः।

नवविज्ञानयुगस्य वैशिष्ट्यम् :

सम्प्रति विज्ञानयुगं वर्तते इति कथ्यते। यतो हि विज्ञानतन्त्रैः विकसितानां विविधानां यन्त्रोपकरणसाधनानां प्राचूर्यं सद्यस्तने जीवने पदे पदे सर्वत्र दरीदृश्यते। यथा अत्र विद्युदीपः, व्यजनम् अथवा अयं ध्वनिवर्धकः इत्यादि। एतादृशी भौतिक विज्ञानोपकरणमालिका प्रायः द्विशतवर्षपूर्वं प्रारब्धा, अद्ययावत् प्रचलति च (छायाचित्रम्)। तत्रापि दीप-व्यजन-यानादि साधनानि जनसाधारणस्थापि परितः भृतकवदुपतिष्ठन्ति। वृद्धिङ्गता खलु सामान्यविज्ञानस्य व्याप्तिः यतो हि ह्यः एव यत् किमपि असामान्यं विज्ञानोपकरणमभूत् तदद्य सामान्यरूपेण उपतिष्ठते; किं बहुना? अस्यां विज्ञानोपकरणमालिकायां नवविकसितपुष्परुपेण विलसति तदाधुनिकं सङ्गणकयन्त्रम्।

पुरा विज्ञानोपकरणानां विषये भाषारचनायाः चर्चा न कदापि सञ्जाता। विद्युदीपस्य का नाम भाषा? का वा भवति व्यजनस्य? परमस्मिन् सङ्गणकविज्ञाने तु Computer Language, Programming Language, Natural Language Processing, Speech Processing, Speaker Recognition, Phonetic input इत्येतादृशी भाषाविज्ञानचर्चा यथेष्ट प्रवर्तते। यत्र कुत्रापि तादृशं भाषारचनायाः शास्त्रीय, विज्ञानचिन्तनं भवति, तत्र अस्माकं विज्ञानतन्त्रतः शुद्धायाः पाणिनीयव्याकरण - नियम - सुबद्धायाः संस्कृतभाषारचनायाः महत्वम् अनिवार्यम् इत्यनेन न्यायेन सङ्गणक-विज्ञाने संस्कृतरचनानं चर्चा देशविदेशेषु वैज्ञानिकैः अङ्गीकृता। तेषु प्रमुखः वैज्ञानिकाः सन्ति अमेरिकादेशीयः नासा - वैज्ञानिकः डॉ. रिक् ब्रिग्जः, कॅनडादेशीयौ आर्मस्ट्रॉङ्गदम्पती, ब्रिटिश मायक्रोसॉफ्ट - संशोधकः डॉ. टोनी होअर, भ्रमणशीलः विज्ञानी डॉ. कॉर्नेन् मैशूलरः, आय्. आय्. टी. प्राध्यापकाः डॉ. महाबलः, सिडॅक् परमनिर्माता डॉ. विजयमटकरः, डॉ. राजीव सिङ्घलः, डॉ. विनीतचैतन्यः इत्यादि। शोधविषयमिमम् अधिकृत्य तैः नैके शोधनिबन्धाः लिखिताः सन्तिः सभासम्मेलनेषु च प्रस्तुताः सन्ति। तेभ्यः ये केचन ज्ञानविज्ञानामृतबिन्दवः दिष्ट्या मया समुपलब्धाः ते एव अत्र प्रस्तुताः सन्ति। अतः

यदत्र सौष्ठवं किञ्चित् तद् गुरोरेवे मे नहि।
यदत्रासौष्ठवं सर्व तन्ममैव गुरोर्नहि॥

संङ्गणकविज्ञाने संस्कृतरचनानां महत्वम् :

विदितं यत् सामान्यगणितव्यवहारे यान्त्रिकता विद्यते इति। के सन्ति व्यवहाराः? तथा हि -

संयोगश्चान्तरं भागो गुणो वर्गो घनस्तथा।
द्वे मूले चेति सामान्यमष्टाङ्गं गणितं स्मृतम्॥

इति। एतेषु या यान्त्रिकता भवति सा संस्कृत-साहित्ये विविधासु बीजाङ्करेखागणितप्रक्रियासू वर्णिता अस्ति। आधुनिके सङ्गणकविज्ञाने तादृशी प्रक्रिया Algorithm इत्युच्यते। किं नाम अल्गोरिदम्? अल्गोरिदम् इत्यस्य कृते नैके पारंम्पारिकाः संस्कृत-शब्दाः सन्ति। तथाहि रीतिः, पद्धतिः, प्रक्रिया, गणितम्, पाटी, व्यवहारः, विधिः, विधानम्, सोपानम् सूत्रम्, मार्गः इत्यादि। तानेव समाश्रित्य सङ्गणकस्य गणप्रणाली (Computer Program) लिख्यते। तादृशी गणप्रणाली सूत्रस्वरूपा स्यात् तथाहि -

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च षड्विधं सूत्रलक्षणम। इति।

एवं सङ्गणकोपकरणस्य सम्यक् सञ्चालने वस्तुत: सूत्रस्वरूपा भाषारचना अतीव महत्वं भजते। एकमेवेदमुपकरणं स्यात् यस्य सञ्चालनालय भाषारचना उपयुक्ता भवति। तत्रापि संक्षेपेन यानि वैशिष्यानि भाषारचनाविषये विविधेषु चर्चासत्रेषु चिन्तितानि सन्ति तानि निम्नलिखितानि भवन्ति।

सङ्गणकप्रयोगे अपेक्षितानि भाषारचनाया: वैशिष्ट्यानि

१) संस्कृतरचनासदृशा सुनियमबद्धा सुसूत्रा शब्दरूपावलि: धातुरूपावलिश्च (Tabulated Forms Of Inclinations).

२) लिपे: वैज्ञानिकता / यथोच्चारणं लेखनम् (Phonetic Trascription).

३) व्याकरणसूत्राणां गणितविधिसाधर्म्यम् (Computational Linguistics).

४) यथा सामान्य - संस्कृतवाक्ये पदक्रमपरिवर्तनेन वाक्यार्थस्य परिवर्तनं न भवति तथा (Free word - order).

५) खण्डान्वय / दण्डान्वय प्रक्रिये (Top down / Bottom up Parsing process in compilation).

६) संख्यापद्धति-विषये मौलिक्य: रचना: / संख्याया: वर्ण - चिह्नाङ्कनम् (Variable Names).

७) अक्षर-गण-वृत्तादि विषयेषु शास्त्रीयं साहित्यम् (Binary Symbol System) (छायाचित्रम्)

८) बीजाङ्क-रेखागणितविषये विविधा: सोदाहरणरचना: (संस्कृत Algorithms)

९) सामान्य - तर्क - विधानम् (Computational logic)

१०) भौतिकविज्ञानविषये सैद्धान्तिकं विवरणम् (Theoretical Physics)

११) शाब्दबोधादि प्रक्रियाविवरणम् (Semantics)

१२) ज्योतिर्गणितस्य मौलिकं साहित्यम् (Algorithms)

१३) संशोधनकार्ये मार्गदर्शनक्षमता (Research Capability)

एभि: लक्षणै: संस्कृतरचनानां सङ्गणकीयता एव स्वयंसिद्धा भवति। अत:

येषां रति: सङ्गणकीयशास्त्रे
ये देववाणीमभिकामयन्ते।
तेषां मनोबुद्धिविकासकार्ये
सम्मेलनेऽस्मिन् भवति प्रयास:।

•••

Post -Independence Urdu Literature

Dr. Tabassum Sheikh



The great flowering of Urdu literature took place in the early decades of the 18th century. For some centuries before that time Urdu had been used as a medium of prose writing, mainly in the religious tracts. Urdu poetry flourished in the 16th & 17th centuries when Urdu Muslim rulers ruled in Central India. The classical period of Urdu literature, then, begins in the early decades of the 18th century; and the great watershed of the revolt of 1857 provides a convenient closing date.

Britishers viewed the Indian history as per their achievements but it is important to realize that this was not the picture as Indians saw it and no less important there were within the subcontinent, different groups that saw historical developments from different stand points, so that one could speak for eg of a Maratha view, a Bengali view and a Muslim view of Indian history. For us it is the Muslim view that is important, for Urdu literature has always been and still is a Muslim literature – not in the sense that it expounds the teaching of Islam, but in the sense that it has always been an overwhelming literature that depicts the experience of the Muslim community of the subcontinent.

From the early 1920's onwards an important change took place, the best Urdu literature ceased to concern itself mainly with the Muslim community and began to reflect the thought and feeling and aspirations common to the people of all communities, Muslim, Hindu and Sikh alike. At the same time Urdu literature ceased to be overwhelming the work of Muslim writers. The greatest prose writer of the 1920's and early 1930's was Prem Chand, a Hindu and after him, along side Muslim writers like Ismat Chughtai and Saadat Hasan Mantu, came the Hindu Krishan Chandar and the Sikh Rajinder Singh Bedi. But even to label these writers Hindu or Sikh or Muslim is not really appropriate, for, to them and to us, what is important is their common humanity, and not the religious community into which they were born. Their deepest sympathies and ours as we read their work – are with the people they portray as people, regardless of the community to which they belong; and such a portrayal was a new phenomena in Urdu literature.

There had been Non-Muslim writers before them who had made significant contributions to Urdu literature. Outstanding among them was Sarshar, but it is a striking fact that in nearly all of his work, and in all of his best work, it is the experience of Muslim community that he portrays.

From the twenties onwards neither Non-Muslim nor Muslim writers confine a themselves in this way. It is perhaps worth noting as to which classes of non-Muslims did habitually write in Urdu.

Among the Hindus of the Urdu/Hindi speaking area two groups were thoroughly at home in the Muslim milieu. One was the kasmiri Brahmin – Sarshar belonged to this group. The other was the Hindu Kayastha a caste of people whose traditional profession had been service in the middle and lower ranks of the Mughal administration. They had made them fluent in Persian and when Urdu replaced Persian, in Urdu too. Prem Chand was a Kayasth and began his literary career as a writer in Urdu all his life, though he soon began writing in Hindi too, so that all his work is available in both languages and he is a major figure in both literatures.

The other major nursery of Urdu writers was Punjab. Here Urdu was the language of literature not only for the Muslims but for the almost equally numerous non-Muslims Punjabis, the Hindus and Sikhs. Native Punjabi was the language of familiar everyday conversation. It was as natural for Krishan Chandar and Rajinder Singh Bedi to write in Urdu as it was for their Muslim fellow Punjabi Saadat Hasan Manto. But this is no longer the case in Indian Punjab where Punjabi language has flourished and has now developed rich

Punjabi literature where as for the Hindus, Hindi has replaced Urdu.

Urdu literature had bounded the Hindus and Muslims together and when Mahatma Gandhi launched the non-Cooperation Movement, it brought out a very strong alliance of Hindu Muslim Unity which was never seen before. Independence from British rule became the common aim of non-Muslims and Muslims alike and millions of people all over the subcontinent were ready to move into action whenever Gandhi and other Congress leaders called upon them to do so.

It was the desire for the independence, sympathy for the poor and an increasing feeling that the solution of the problems of the poor must be sought not only in liberation from foreign rule but in opposition to the Indian rich, that found reflection in the Urdu writing of this period. Even in the writers from the Muslim community, there was little or no reflection of an outlook which was concerned mainly or exclusively with the Muslims. Religious fervour was not in evidence, and communal prejudice completely absent.

It was in Urdu prose writing that these trends found their clearest expression, but poetry too was affected by them. Here Iqbal continued until his death in 1938 to dominate the field. As we have seen, his message, though cast in Islamic terms, stressed the power of human beings to make their own future and inspired in them the leverage to do so and so naturally appeared to readers in every community who were determined to do just that to free their country from foreign rule and domestic oppression.

In the 1930's developments occurred which culminated in 1936 in the formation of the Progressive Writers Association – PWA for short. They included Mulk Raj Anand, Sajjad Zahir, Jyoti Ghosh and Pramod Sen Gupta. In Urdu the ground for the success of the new movement had been prepared to some extent by the publications in 1932 of a collection of stories called 'Angare'. Of its ten stories five are by Sajjad Zahir, two by Rashad Jahan, two by Ahmad Ali and one my Mahmuduzzafar and all of these except Ahmed Ali were Communists. Its publication raised an uproar, as a result of which the book was banned because all the stories include accounts of intimate sexual relationships which even today, nearly two generations later, would still shock most Urdu readers and there are satirical attacks not only upon religious leaders but on religion.

Characteristics of Post Independence Urdu Literature.

1) The great thinkers, philosophers, poets, theologians and scientists of the past were considered to be perfect in all respects and people looked up to them with despairing or exultant veneration.

   Sayyid Ahmad, Altaf Hussain Hali and some others strove to demolish in their writings.

   As a result of this changed outlook, public opinion today is more critical and enlightened; it judges institutions by their usefulness and reasonableness. The centre of attention has shifted from institutions to men.

2) The ideal of the literature now is not to escape life or to to put up with it as a necessary evil but to make it better which does not imply the loss of interest in religion, in fact a very large part of literature is concerned with religions in favour of an ethical life divesting it of its medieval bleakness, gloom and asceticism.

3) The immediate result is secular life and optimism. Despotism, social rigidity and a depressing theology has paved way for the belief that inequalities of life and such inflictions as sorrow, suffering and disease are the result of a faulty system which can be improved by better legislation, education and organization and the steady materialization of these ends has given us self-confidence and courage to battle against these man made evils.

4) This takes to another side of Urdu literature and that is humanitarianism. The middle ages were individualistic. 'every man for himself and good for all of us'. The new literatures emphasized on social obligations duty for duty's sake, duty towards the neighbours, universal friendship, universal charity. In short an altruistic ideal.

   Love, sympathy and compassion towards fellow beings, that the poor and depressed have

the right to happiness and their disabilities due to accident of birth or a defective social or political order should and can be remedied with love and sympathy.

5) The influence of the new industrial organization has had an impact and writings of Urdu literature. Large-scale production and the consequent increase of economic dependence, the rise of new profession, the meeting of people of various castes ad creeds in schools and colleges and railways have worn down caste prejudices.

A noticeable feature of the new literature is its increased interest in life and its surroundings, and its eagerness to reconstruct society on a sound and healthy basis. Thus there was a shift from the expression of an interest in life for its own sake – its richness, pathos, beauty mystery or complexity but emphasis was on the realization of the magnitude of Evil, man made evil, in the form of customs, conventions or political disabilities and the desire to attack and uproot them. Naturally therefore the literature became ameliorative and humanitarian. It descends into the area to help and fortify the poor and humble. It studies them with love and sympathy, portrays the evils that afflict them, shows fortitude, coverage and ignorance, and strikes at the chains of customs and conventions that bind them. The note is at its strongest in fiction, especially in Nazir Ahmad and Prem Chand and even in Sarshar.

6) Literature gained wider franchise in post independence. It envisaged the whole of life, and not confined to few stereo typed subjects. The world of nature and humanity and their interactions, animal life, social problems, the lot of women, children and outcastes, the study of the past; patriotism, nationalism, philosophy, metaphysics, mysticism, all of them which sprang from the artist's inspiration began to flow and has imparted richness and variety to literature.

7) Although it embraced the whole of life it is only partly creative. In a self-conscious age of today it has became critical. The greater part of the new poetry is intellectual, satiric, didactic or philosophical. This racking self-consciousness shows itself in the subjective character of the poetry of nature. We carry our problems wherever we go, we have failed to see things in its objectivity and literature has become subjective where authors frets and fumes about humanity rather than appreciating beauty in its isolation. As a result the literature of the age is more intellectual and critical than imaginative.

8) The decay of the old order and the aristocracy, the growth of business and commerce, and the spread of education, favoured the rise of the middle class, which soon became the most powerful class in the country. It was the emergence of this class, rich prosperous, supple, forward looking, that released the arts from the bondage. The old literature was aristocratic and dealt with the lives of kings and princes in a romantic setting. The present literature is democratic; it deals sympathetically with the lives of the common people; and the old privileged classes are introduced in it as foils to the middle class and the poor, as in the works of Nazir Ahmad, Sarshar and Prem Chand.

9) The modern writer is free to choose his themes but only in theory in practice he is no more free than the artist in the past and enjoys at best a very narrow margin of freedom. He imagines that he determines his attitude and values himself, but in reality it is society that determines them for him.

10) There was no prose worth the name before the Indian Mutiny, and the little we had was akin to poetry in its use of rhymes, word play, and metaphor. The new prose is essentially a modern development, it is modelled on English prose, and is the result of those very intellectual and economic factors which laid the foundation on modern English prose in the 18th century.

11) The modern writer is differently situated. The accelerated tempo of life leaves him no time for the studied effect of the old prose. He must write

quickly still more important is th extraordinary development of the intellectual interests of life. The writer today, be he a scientist, reformer, historian, novelist, journalist, deals with facts; he has a definite attitude to communicate and he must look straight at his subject. He must be precise, clear and brief before everything else. And because he is addressing those who like him are rushed for time, he must make no unnecessary calls on their time and attention.

•••

The Matrix of Indianness and Post-Independence Indian Writing in English

Dr. Nibir K Ghosh



In this euphoric moment of rejuvenation while Mother India celebrates the 61st anniversary of her independence, I believe it will not be out of place to muse on uncomfortable questions like "Who is an Indian, and where does that mythical quality of 'Indianness' lie?". In this presentation, I wish to present through collage of impressions, drawn from fact and fiction, how the idea of India engaged the individual mind and the collective consciousness over the last century or so especially with reference to Indian Writing in English.

When I think of the idea of the "mythical" Indian, I can't help being reminded of the name of Sri Aurobindo. In the year 1879, Dr. Krishnadhan Ghose, deeply impressed by the English way of life, took his son Aurobindo, aged seven, along with his two other sons to England and placed them with an English family – the Drewetts – with strict instructions that they "should not be allowed to make acquaintance of any Indian or undergo any Indian influence." Though Aurobindo grew up in an entire ignorance of India, her people, her religion and her culture, the patriot in him felt enchanted and drawn towards the shores of India, a feeling that finds lucid expression in his poem "Envoi":

Me from her lotus heaven Saraswati

Has called to regions of eternal snow

And Ganges pacing to the southern sea,

Ganges upon whose shores the flowers of Eden blow-

My soul arose at dawn and, listening, heard

One voice abroad, a solitary bird.

A song not master of its note, a cry

That persevered into eternity.

1893 – the year in which Swami Vivekanda set out to illumine the West with the light of the East – marked the beginning of Autobindo's journey planned out for him by the divine Mother. In *The Ideal of Karmyogin* he stated in clear terms: "the task we set before ourselves is not mechanical but moral and spiritual. We aim not at the alteration of a form of government but at the building up of a nation. Of that task politics is a part, but only a part … It is a spiritual revolution that we foresee and the material is only its shadow and reflex".

Aurobindo's love for his motherland and the radical spirit in which he wished to be of service to Her is evident from the letter he wrote to his wife in 1905: "Others know their country as a material thing, as fields, plains, forests, mountains, rivers; I know my country as Mother. I offer her my devotions, my worship. If a vampire sits upon her breast and prepares to such her blood, what does her child do? Does he sit down peacefully to his dinner and make merry with his wife and children? Does he not rush out to her rescue? I know I have in me the power to accomplish the deliverance of my fallen country….. This feeling is not new to me, not of the present day; with this feeling I was born; it is in the marrow of my bones; God has sent me to earth to do this work."

If Bankim Chandra was the 'seer' of the *mantra* of India's dynamic nationalism "Bande Mataram", Sri Aurobindo was its high-priest. In order to transform the dream of India's freedom into reality, Aurobindo lay great emphasis on the readiness to sacrifice self-interest, family interest, class interest to the larger national interest. He felt that the spread of "a general spirit of ungrudging self-sacrifice is the indispensable prelude to the creation of the Indian nation". Aurobindo firmly believed that "the ideal creates the means of attaining the ideal, if it is itself true and rooted in the destiny of the race." Aurobindo knew that Purna Swaraj could be achieved only with the participation of each and

every segment of the Indian society. By initiating the concepts of passive resistance, *swadeshi* and boycott he paved the way for Mahatma Gandhi to launch his campaign against the British on a national scale which ultimately brought India her much cherished freedom.

The brand of *swadeshi* and the spirit of nationalism that Aurobindo advocated in the political realm was realized to a very great extent in the arena of Indian Writing in English by its "founding fathers" – R.K. Narayan, Raja Rao, Mulk Raj Anand – whom Salman Rushdie refers to as "Midnight's Parents." This famous trio laid strong foundations for an indigenous brand of fiction that could be seen as essentially Indian in subject, tone and tenor.

In his "foreword" to K*anthapura*, Raja Rao set forth what was to be a lifelong literary concern – conveying the Indian experience to the larger world in a language besides his native Kannada: "The telling has not been easy. One has to convey in a language that is not one's own the spirit that is one's own. English is not really an alien language to us. It is the language of our intellectual make-up like Sanskrit or Persian was before, but not of our emotional make-up. We are all instinctively bilingual, many of us writing in our own language and in English. We cannot write like the English. We should not. We cannot write only as Indians. We have grown to look at the large world as part of us. Our method of expression therefore has to be a dialect which will some day prove to be as distinctive and colorful as the Irish or the American Time alone will justify it."

In his "Acceptance Speech" on March 24, 1997 in Austin, when he was elected a Fellow of the Sahitya Akademi, Raja Rao observed somewhat wistfully; "To have been born in India and not have written in Sanskrit, or at least in Kannada is, believe me, an acute humiliation. But I still dream of writing in Sanskrit – one day!".

The study of Indian Writing in English reveals that from the beginning there have been two main tendencies – to write always in chaste, standard English of impeccable idiom and rhythm of speech; and to write an Indian English with translated idiom, occasional direct use of Indian words and Indian rhythm of speech in an attempt to capture the tempo of Indian life.

Mulk Raj Anand was among the first Indian writers to render Punjabi and Hindustani idioms into English. Anand drew a realistic and sympathetic portrait of the poor of his country.

Contrary to the heightened nationalistic fervour of Sri Aurobindo and the "Midnight's Parents", who, lured by the call of Mother India, refused to be seduced by the flitter of the west, it is interesting to think of a writer like V. S. Naipaul who, despite his Indian origin finds it embarrassing to be called an "Indian".

Twenty years ago, in the July 5-11, 1987, issue of the *Illustrated Weekly of India*, Pritish Nandy, the then Editor of the *Weekly*, had hailed V.S. Naipaul as "the world's greatest living author." Irked by what seemed to me to be an unqualified lavish praise I had, unhesitatingly, dispatched a letter to Pritish which he, very sportingly, published in the August 2-9 issue of the *Weekly*. In the letter I had drawn the Editor's attention to the spirit behind Hamlet's advice to Polonius: "Use every man after his desert and who shall 'scape whipping? Use them after your own honour and dignity – the less they deserve, the more merit is in your bounty." I had pointed out that it was "gracious indeed that such praise be heaped on a writer of Indian origin whose myopic vision observes nothing in this vast and complex country except the ruins of a 'wounded civilization' shaded by an 'area of darkness'. He has unblinkingly described the country of his origin as a 'decaying civilization, where the only hope lies in further decay." I pointed out how Naipaul's discovery of India had revealed to him only pathetic creatures incapable of understanding his simplest problems. I could discern the rather in humanistic trends in Naipaul's writings. His disgust for the 'South Indians' was occasioned by the way they "lap up their liquidized food". His notion of the 'Bengali' as "insufferable arrogant and lazy" derived from his brief encounter with a 'Paan seller' in Calcutta. His obsession with the theme of 'public defecation' seemed to deprive him of the ability to see his country in human or historic terms.

A few months after this exchange with Pritish Nady, I fortunately came across an essay by Nissim Ezekiel titled "Naipaul's India and Mine" in the anthology called *New Writing in India* edited by the

poet, Adil Jussawalla. Till then my faimilarity with Ezekiel had begun and ended with "The Night of the Scorpion" which I had read during my school days. Ezekiel mentions at the beginning of his extraordinarily brilliant essay how he intended to counter the image of Naipaul's India as portrayed in his *An Area of Darkness* with his own. Naipaul's dilemma which Ezekiel so adroitly observed many decades ago seems to accompany Naipaul even today. While receiving the Nobel Prize for Literature, he did not hesitate to remark that England was "(his) home," and India, "the home of (his) ancestors." It is interesting to see how Ezekiel skillfully combats Naipaul's vision of India and moves on to describe what his own India is all about:

In the India which I have presumed to call mine, I acknowledge without hesitation the existence of all the darkness Mr. Naipaul has discovered. I am not a Hindu and my background makes me a natural outsider: circumstances and decisions relate me to India. In other countries I am a foreigner. In India I am an Indian. India is simply my environment. A man can do something for and in his environment by being fully what he is, by not withdrawing from it. I have not withdrawn from India…. I believe in anger, compassion and contempt …. They are not without value. I believe in acceptance that incorporates all three, makes use of them. I am incurably critical and skeptical. That is what I am in relation to India also. And to myself. I find it does not prevent the growth of love. In this sense only, I love India. I expect nothing in return because critical, skeptical love does not beget love. It performs another, more objective function.

As a schoolboy, Nissim Ezekiel had displayed his marked preference for the poetry of T.S. Eliot, W.B. Yeats, Ezra Pound, W.H. Auden and Rainer Maria Rilke to the floridity of Indian English verse. However, it is interesting to note that Ezekiel's stay in England from 1948 to 1952 did not engender any fawning sycophancy of the West. On the contrary, unlike Nirad C. Chaudhari or V.S. Naipaul, his sojourn in England deepened his emotional ties with India.

Ezekiel once described India as too large for anyone to be at home in all of it. However, after tenures as visiting professor at Leeds University (1964) and Chicago (1967), plus lecture tours and conferences, he always gravitated back to his native city. Though a natural outsider, he still felt Indian, albeit incurably critical and skeptical. The raw material with which Ezekiel carves out his poetry comprises his living awareness of India as his only home. He accepts, however, that he can identify himself only with modern India since his Jewish background makes it difficult for him to identify himself with India's past as a comprehensive heritage. He writes:

I am neither proud nor ashamed of being an Indian. I am neither proud nor ashamed of being Westernized. History is behind me. I live on the frontiers of the future that is slowly receding before me. Contempt for background impresses me as little as pride in background. Both are distorting. Tormented, self-regarding resolutions of cultural conflict create new, tormenting problems.

What Ezekiel says incidentally to undermine Naipaul's India becomes a sort of refrain that occurs again and again in the numerous poetic utterances of his. He says in 'Background, Casually":

The Indian landscape sears my eyes.
I have become a part of it
To be observed by foreigners.
They say that I am singular,
Their letters overstate the case.
I have made my commitments now,
This is one: to stay where I am.
As others choose to give themselves
In some remote and backward place.
My backward place is where I am.

In view of the attendant discourse, Ezekiel's essay can be seen as a manifesto that delineates the serious concern of authentic Indian writing in English, a manifesto that delineates significant critical paradigms for those whose interest lie in diasporic writings.

Indian Writing in English has traveled a long way from Naipaul's despairing statement: "the creative urge has failed" – "Shiva has ceased to dance." India's encounter with the English language, far from proving abortive, continues to give birth to new children, endowed with lavish gifts. With Salman Rushdie getting

the Booker for Midnight's Children in 1981, Indian writing in English was liberated from its colonial straitjacket. It also gave birth to a new voice, one that was exuberantly magical, cosmopolitan and multicultural, full of unexpected cadences, as well as forms that were new to the English novel but deeply rooted in Indian traditions of storytelling.

After Rudhdie Indian Writing in English started employing magical realism, bagginess, non-linear narrative and hybrid language to sustain themes seen as microcosms of India and supposedly reflecting Indian conditions. In spite of the proliferation of literary theories on a global scale that clouds the understanding of both life and art today, it is heartening to know that even highly acclaimed writers are not unaware of the significance of a good story that appeals to the "law of our primary nature" and is free from the imposition of all labels and signifiers like colonial, postmodern or postcolonial. As a case in point, I would like to recall a passage from Arundhati Roy's *The God of Small Things:*

The secret of the Great Stories is that they have no secrets. The Great Stories are the ones you have heard and want to hear again. The ones you can enter anywhere and inhabit comfortably. They don't deceive you with thrills and trick endings. They don't surprise you with the unforeseen. They are as familiar as the house you live in. Or the smell of your lover's skin. You know how they end; yet you listen as though you don't. In the way that although you know that one day you will die, you live as through you won't. In the Great Stories you know who lives, who dies, who finds love, who doesn't. And yet you want to know again.

Again, in his recent novel The Ground Beneath Her Feet, Salman Rushdie ends his masterpiece with a poignant reflection on the love of Ormus and Vina which he considers to be endowed with the mythic, the overweening, and the divine:

Now that they've gone, the high drama's over. What remains is ordinary human life. In all the old stories, in different ways, the point is always reached after which the gods no longer share their lives with mortal men and women, they die or wither away or retire. They vacate the state and leave us along upon it, stumbling over our lines. This, the myths hint, is what a mature civilization is.

While talking of Indianness in Indian Writing in English, mention must also be made of two important segments, especially the Indian Drama in English and regional literatures available in English translation wherein one can observe genuine attempts made by dramatists and writers to encompass as many Indian realities as possible, rural as well as urban, scared as well as profane.

The drama written in English by Indian writers has usually dealt with themes provided by Indian history, myths and legends with the use of metaphors, symbols and other stylistic devices. These dramatists like the novelists and other fiction writers have to use a lot of Indian phrases either directly or their translated equivalents in bringing in the Indian flavour into them. This genre of drama writing in English is not a very popular one in India as compared to prose and poetry. It does give the dramatist chances for improvisations in this genre as the playwrights can use more of the colloquialisms and conversational phrases to make it closest to the language spoken by the common people and hence gets through to them to identify with their sensibilities. While some critics would undoubtedly question the claim that "The western models have so much conditioned us and our responses that it is well nigh impossible for an Indian dramatist to break this and create a theatre that truly represents the Indian ethos, "one would perhaps agree with K. Satchidanandan, Secretary, Sahitya Akademi, that "any essentialist attempt to construct a standard Indian literature, Indian culture or Indian character without addressing the question of this inherent and enriching plurality will only end up creating a parody of Indian reality".

In sharp contrast, the stellar role of Bhasha writers in constructing the image of India must come for specific mention. The reality of Bhasha writers comes from small towns and villages. Today, they are narrating the nation more realistically, accurately and with so much more density. They are still closer to democracy than those writing in English. According to Krishna Sobti, "Bhasha writers are connected with the collective consciousness of the country. Their writing is so much more vibrant. But that doesn't mean that the writing in

English is bad. A lot of it is good but not so connected."

In times of historical crises, the lines of demarcation between the bhasha writers and those writing in English do tend to get blurred as noted by Khushwant Singh: "During independence both language and English writers were affected by the holocaust, and both showed equal concern for the same issues through their writings. It was a living example of co-existence.". However, today, co-existence sounds a very remote concept. Language writers have long felt that despite their good work they lose out to English writers when it comes to money, recognition and readership. U.R. Ananthamurthy too has a grouse: "People like us who write in our mother tongue suffer because our language is not the global language of America." Dhiruben Patel who writes both in Gujarati and English rises above such sectarian considerations and states: "Literature, be it in English or in any other Indian language is far above such considerations of language, reach and money. If at all literature can be defined, it is only in two ways, either it is good literature or bad literature."

In the present era, new writers emerge every few weeks. Indian Writing in English, especially fiction, is now seen as the goose that lays golden eggs. Thanks to the opening up of branches by up market foreign publishers like Penguin, Picador, and Harper Collins, Indian writers in English today are hot property. What a leap it has been for Indian Writing in English from R.K. Narayan wishing to throw the manuscript of *Swamy and Friends* into the Thames as he couldn't find any publisher to Hari Kunzru's stratospheric one million pound advance. In the last 20 years or so, Indian Writing in English has begun to merit a place alongside the most flourishing literatures in the world. This is symptomised by the currency enjoyed by Indian literature at the present moment – in terms of its unprecedented accommodation in school and university curricula, its easy availability in both big-city and small-town libraries and book shops, and the engagement of many mainstream India-based publishers with it. In brief, it seems that a niche has been created in India for Indian writing in English, both in translation and in the original, published by Indian publishers for a predominantly Indian market.

In this context it will be quite appropriate to take into consideration the attitude and approach of Arundhati Roy, the winner of the Booker Prize for her *God of Small Things.* In a *Salon* interview when asked, "What does it mean to be an Indian novelist today? What does it mean to be Indian?" Arundhati Roy responded by saying:

"What is Indian? What is India? Who is Indian?" Do we ask, "What does it mean to be American? What does it mean to be British?" as often? I don't think that it's a question that needs to be asked, necessarily. I don't think along those lines, anyway. I think perhaps that the question we should ask is, "What does it mean to be human?"… I don't even feel comfortable with this need to define our country. Because it's bigger than that! How can one define India? There is no one language; there is no one culture. There is no one religion, there is no one-way of life. There is absolutely no way one could draw a line around it and say, "This is India" or, "This is what it means to be Indian. The whole world is seeking simplification. It's not that easy. I don't believe that one clever movie or one clever book can begin to convey what it means to be Indian".

A similar statement was made by the recent winner of the Booker Prize for *The Inheritance of Loss* – Kiran Desai. When asked by an interviewer, "You live in America but you have retained your Indian passport. Do you feel more Indian than American?" Kiran Desai responded by saying:

Being part of the Indian diaspora gives one a precise emotional location to work from, if not a precise geographical one. This book was a return journey to the fact of being Indian, to realizing the perspective was too important to give up. America might give me half a narrative, but I had to return to India for the other half of the story, for emotional depth, historical depth. I don't care about passports. Literature is located beyond flags and anthems, simple ideas of loyalty".

I may not be out of place to mention here how Rushdie vigorously resisted all attempts to constrain the Hindi words in his novels within italics; Roy was also very brave in this respect, making it quite clear that she

would not obey her foreign editors' injunctions to explain Indian words: "Updike didn't explain baseball for an Indian audience," she said, and she was damned if she was going to explain the ways of Kerala to a Manhattan audience – they could take it or leave it.

Despite such statements that redefine notions of Indianness, it cannot be said with certainty that we have rid ourselves completely of the colonial hangover that continues to haunt many writers, critics, scholars and academics in India even today. In a poem entitled "The Daffodil," published in the September 2005 issue of Re-Markings, Dr. Jagganath Prasad Das, a Delhi-based distinguished Oriya poet, playwright and fiction writer, articulates this tendency to remain glued to the west. The following lines from the poem, I guess, may enrage literary sensibilities dedicated to the western intellectual discourse:

Neither the teacher in the classroom
Not his confounded pupil,
Nor the westward looking scholar
Has ever seen it with his mortal eyes;
Yet the daffodil,
Swaying and dancing
In the breeze,
In its golden arrogance,
Flashes upon their inward eye.
The empire may have ended
Like a short spring,
But the daffodil lives on.
As lively and fresh now
As in the golden age of imperialism,
Its glory untarnished
In the ruins of empire….
The daffodil shines as ever before,
Shamelessly arrogant,
In the inner eye
of our very own intellectuals.

This collage of impressions will remain incomplete if mention is not made of the contributions, literary and otherwise, that have emanated from the intellectual elite in the country, namely the I.A.S. officers. One may decidedly be amused by the account provided by Upamanyu Chatterjee in his best-selling novel, *English, August*: *An Indian story* (1988) (subsequently made into a major film). Upamanyu Chatterjee, born in 1959 at Patna, Bihar, is one of the new talented Indian writers of the contemporary generation. After studying English literature at Delhi University, he joined the Indian Administrative Service in 1983. In 1990, he lived as Writer in Residence, at the University of Kent, U.K. In 1998, he was appointed Director (Languages) in the Ministry of Human Resource Development, Government of India. The novel *English, August*: *An Indian Story* presents an unflattering portrait of the Indian government in action. Named after an obscure character from the Ramayana, Agastya is known as August or, as a result of his fondness for the language, as English. The novel follows Agastya Sen – a young westernized Indian civil servant posted to an obscure Indian village – whose imagination is dominated by women, literature and soft drugs.

In brass contrast to Chatterjee's portrayal of the commitment and responsibility of the Indian Administrative Service officials, one can see a more serious portrayal of this elite group's aberration in T.S.R. Subramanian's *Journeys Through Babudom and Netaland: Governance in India*. The book shows how priorities have changed over the years from "right" and "public interest" to Might and self-interest". Subramanian, a senior I.A.S. official who has held the coveted position of Chief Secretary in Uttar Pradesh has this to say about the "babus" (the IAS officers):

They contribute very little, rarely perform any useful function, are arrogant and rude to the general public, and at the same time subservient and sycophantic to seniors and their political masters. A civil servant generally creates and lives in his own make-believe world unrelated to reality – that is why most of them have a faraway look when you see them – they will not meet you in the eye.

Subramanian confesses how in his four decades of public service, he has come across only a handful of "honest politicians". What is most striking in this book is the author's courage in revealing how the "neta" himself views the "babu". In a perceptive passage

Subramanian quotes the Uttar Pradesh Chief Minister, Mulayam Singh Yadav addressing a conclave of IAS officers:

You all have such excellent minds and education: some of you are scholars; some of you have Nobel Prize minds; you will all succeed in any walk of life, wherever you turn your attention to; you have good jobs; you can educate your children well; and you are all respected by society; - (and then, the clincher, raising his voice) – Why do you come and touch my feet? Why do you come and lick my shoes? Why do you come to me for personal favours? When you do, I will do as you desire and then extract my price from you.

After such knowledge what forgiveness!

Despite such grim images in the collage of India, there is much in the context of contemporary India that offers cause for elation and celebration. Adequate sustenance may be drawn from the stirrings of change which even a cynic like Naipaul could not fail to observe. Towards the end of his later work, *India: A Million Mutinies Now*, Naipaul states:

The India I had gone to in 1962 had been like a place far away, a place worth a long journey…. On that first journey I was a fearful traveler…

India was now a country of a million little mutinies…. There was in India now what didn't exist 200 years before: a central will, a central intellect, a national idea…. What the mutinies were also helping to define was the strength of the general intellectual life, and the wholeness and the humanism of the values to which all Indians now felt they could appeal. And – strange irony – the mutinies were not to be wished away. They were part of the beginning of a new way for many millions, part of India's growth, part of its restoration.

Before concluding this presentation, it would be appropriate to visualize the challenges Indian Writing in English may encounter in this age of globalization where cyberspace has literally shrunk the world in terms of both space and time. The interface of cultures demands the creation of a beautiful mosaic of multiculturalism that cuts across narrow walls of divisiveness to discover and embrace the quintessence of the truly human. The mingling of the traditional elements with the western cultural mores can create the limitless possibilities of a vastly diversified unity wherein life as well as literature may address the notable recognition of the social, psychological and humanistic needs of the free and equal partnership of people working together for the common good characterized by tolerance, respect for freedom, compassion and progressive democracy to fulfill the dual function of "prayojana" and "purushartha" – immediate usefulness and ultimate goal.

Select Bibliography

Aurobindo, Sri. *Collected Poems*. Pondicherry: Sri Aurobindo Ashram, 1972.

Aurobindo, Sri. *The Doctrine of Passive Resistance*. Pondicherry: Sri Aurobindo Ashram, 1952.

Aurobindo, Sri. *The Ideal of the Karmyogin*. Pondicherry: Sri Aurobindo Ashram, 1950.

Chaudhary, Amit (ed.). *The Picador Book of Modern Indian Literature*, 2001.

Das, Jagganath Prasad. *"The Daffodil," Re-Markings*, Vol.4 No.2, September 2005, pp.121-122.

Ezekiel, Nissim. "Naipaul's India and Mine" in *New Writing in India*, ed. Adil Jussawalla. Middlesex: Penguin, 1974, pp.71-90.

Ezekiel, Nissim. *Collected Poems*: 1953-1988: Oxford University Press, 1989.

Ghosh, Nibir K. "Letter to Pritish Nandy," *Illustrated Weekly of India*, August 2-8, 1987.

Hoskote, Ranjit (ed.). *Reasons for Belonging: Fourteen Contemporary Indian Poets.* Viking/ Penguin Books India, New Delhi, 2002.

King, Bruce Alvin. *Modern Indian Poetry in English: Revised Edition.* New Delhi: Oxford University Press, 1987, rev. 2001.

King, Bruce Alvin. *Three Indian Poets: Nissim Ezekiel, A K Ramanujan, Dom Moraes*. Madras: Oxford University Press, 1991.

Mitra, Sisirkumar. *Resurgent India*. New Delhi: Allied Publishers, 1963.

Naipaul, V.S. *An Area of Darkness.* Middlesex: Penguin Books, 1982.

Naipaul, V.S. India: *A Million Mutinies Now.* London: Heinemann, 1990.

Naipaul, V.S. India: *a Wounded Civilization*. London: Deutsch, 1977.

Parthasarathy, R (ed.). *Ten Twentieth-Century Indian Poets* (*New Poetry in India).* New Delhi: Oxford University Press, 1976.

Roy, Arundhati. *The God of Small Things*. New York: Harper Perennial, 1996.

Rushdie, Salman. "*India and World Literature*" *The Hindu*, Vol.14, No.16, Aug. 9-22, 1997.

Rushdie, Salman and Elizabeth West (ed.) *The Vintage Book of Indian Writing*: *1947-1997*. London: Vintage, 1997.

Rushdie, Salman and Elizabeth West (ed.). *Mirrorwork*: *50 Years of Indian Writing 1947-1997*. Henry Holt & Co.,1997.

Rushdie, Salman. *The Moor's Last Sigh*: A Novel. Pantheon, 1996.

Rushdie, Salman. *Imaginary Homelands*: Essays and Criticism 198-1991. Viking, 1991.

Rushdie, Salman. *The Ground Beneath Her Feet*: A Novel. Henry Holt & Co.,1999.

Satchidananda. K. *Authors, Texts, Issues: Essays on Indian Literature*, New Delhi: Pencraft International, 1003.

Subramanian, T.S.R. *Journeys Through Babudom and Netaland: Governance in India*. New Delhi: Rupa & Co.,2004.

●●●

स्वातंत्र्योत्तर मराठी समीक्षेतील प्रवाह

डॉ. शत्रुघ्न जाधव



स्वातंत्र्योत्तर मराठी समीक्षेतील प्रवाहांची चर्चा करतांना स्वातंत्र्योत्तर ते आताच्या एकविसाव्या शतकातील दशकापर्यंतचा फार मोठा कालपट लक्षात घ्यावा लागतो. स्वातंत्र्यानंतरच्या ६० वर्षात देशासह महाराष्ट्रात अनेक प्रकारची स्थित्यंतरे झाली आहेत. गेल्या ६० वर्षातील महाराष्ट्राची जडण घडण लक्षात घेतली तर धार्मिक, सामाजिक, राजकीय, सांस्कृतिक, साहित्यिक, भाषिक, वैचारिक अशा विविध पातळ्यांवर लक्षवेधी घटनाक्रमांची मालिका व त्या घटनांचा प्रभाव सबंध महाराष्ट्रभर पडल्याचे स्पष्टपणे दिसून येते.

स्वातंत्र्यानंतर देशाला संविधान मिळाले. महाराष्ट्रात भाषावर प्रांतरचनेसाठी अभूतपूर्व आंदोलन होवून संयुक्त महाराष्ट्राची निर्मिती झाली व मराठी भाषा ही राजभाषा बनली. धर्मनिरपेक्ष संविधानामुळे प्रत्येक नागरिकाला विचार, उच्चार संचार व लेखनस्वातंत्र्य मिळाले. समता, स्वातंत्र्य, बंधुता, सामाजिक न्याय व धर्मनिरपेक्षता या मूल्यांची रुजवात झाली. अस्पृश्यतेसारखा सामाजिक कलंक संविधानात्मक कायद्याने नष्ट झाला. डॉ. बाबासाहेब आंबेडकरांचे धर्मांतर ही सामाजिक क्रांतिकारी घटना महाराष्ट्रात घडली. फुले-शाहू-आंबेडकरांच्या विचारसरणीने महाराष्ट्रातील सामाजिक-सांस्कृतिक-राजकीय जीवन प्रभावित झाले. त्याचबरोबर गांधीवाद, मार्क्सवाद सामाजिक, सांस्कृतिक, राजकीय क्षेत्रात दाखल झाला.

मराठी साहित्याच्या प्रांतात स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक पर्यावरणाचे पडसाद उमटणे सुरु झालेले होते.विविध विचार प्रणालीचा, विविध प्रयोगशील अभिव्यक्तींचा व विविध आशयवैचित्र्यांचा मराठी वाङ्मयाच्या सगळ्या प्रकारांवर खोल प्रभाव पडल्याने या काळातील मराठी साहित्याचे आंगोपांग बदलून गेले. स्वातंत्र्यापूर्वीच्या मराठी साहित्यातील प्रेरणा , प्रवृत्ती व प्रमेये स्वातंत्र्योत्तर कालखंडात निरनिराळ्या पद्धतीने परिवर्तीत झाली. मराठी साहित्याच्या या बदललेल्या वाटा आणि वळणाच्या स्वरुपानुसार स्वाभाविकपणेच समीक्षाव्यवहारही बदलणे अपरिहार्य होते आणि तसा बदल मराठी समीक्षेत झाला. साहित्याचा व समाजाचा पूर्वीचा तुटलेला सांधा या काळात मर्ढेकरी नवसाहित्य व समीक्षेच्या प्रभावक्षेत्रात आलेल्या साहित्य प्रांतातही प्रकर्षाने घट्टपणे जुळला गेला. म्हणूनच अभिव्यक्तिच्या तांत्रिक बाह्य अंगासोबतच आशयाच्या वैविध्यपूर्ण सखोल अंतरंगाचे आकलन, आस्वादन, विश्लेषण, मूल्यमापन, सिध्दांतन, संशोधन व उपयोजन होणे अत्यंत आवश्यक होते. आणि ही मराठी समीक्षेची अटळ जबाबदारी होती.

प्रस्थापित मराठी समीक्षेचे आदर्श व तत्त्वसूत्रे ही परकीय आंग्लभाषेतील साहित्यातून विकसित झाली होती. म्हणून काही साहित्यप्रवाह म्हणजे मार्क्सवादी, अस्तिववादी तथा संरचनावादी, कलावादी, रुपवादी, स्त्रीवादी, आदिबंधात्मक अशा तत्त्वसूत्रांची प्रस्थापित मराठी समीक्षेने योग्य दखल घेतली, परंतु ग्रामीण, दलित, आदिवासी अशा अपरिचित साहित्यप्रवाहांची हवी तशी अन्वर्थक व न्याय्य समीक्षा प्रस्थापित समीक्षेला करता आलेली नाही. परिणामी त्या- त्या साहित्यप्रवाहांसाठी चळवळीच्या माध्यमातून विशिष्ट विचारप्रणालींच्या व विशिष्ट मूल्यचौकटींच्या भूमिकेतून स्वतंत्र्यपणे समीक्षासुत्रे प्रतिपादन करणारी आणि त्या-त्या विविध प्रवाहांची अन्वर्थक व समयोचित चर्चा करणारी समीक्षा मराठी साहित्यांच्या प्रांतात काही समीक्षकांनी जाणीवपूर्वक सुरु केली. म्हणूनच स्वातंत्र्योत्तर मराठी समीक्षेच्या विविध प्रवाहांची सूत्रात्मक बांधणी व मांडणी करण्याचा प्रयत्न साहित्यविमर्शकांनी मराठीत सुरु केला. एकंदर मराठी समीक्षा कशी आहे याविषयी आजच्या पंचवीस वर्षापूर्वी प्रख्यात समीक्षक प्रा.ह.श्री. शेणोलीकर यांचे निरीक्षण फार महत्वाचे आहे. प्रा. शेणोलीकर तेव्हा म्हणाले की, ‘आजचं काय, कालचं काय, आपलं सारं समीक्षवाङ्मय हे बाहेरुन आलेलं आहे, परपुष्ट आहे. ते येथल्या मातीत रुजवलं गेलं पाहिजे.[१]

स्वातंत्र्योत्तर मराठी साहित्याच्या प्रांतात नवसाहित्य, मार्क्सवादी, अस्तित्ववादी, प्रादेशिक, ग्रामीण, समकालीन, दलित, जनवादी, आदिवासी, स्त्रीवादी, मुस्लीम, ख्रिस्ती, जैन, कामगार, विज्ञान अशा नावांनी साहित्यप्रवाह अवतीर्ण होऊन आज स्थिरस्थावर झालेले आहेत. या सगळ्या साहित्यप्रवाहांचा त्यांचा-त्यांचा एक विशिष्ट दृष्टिकोन आहे. समीक्षेच्या संदर्भातही नवसमीक्षा, ग्रामीण समीक्षा, मार्क्सवादी समीक्षा, अस्तित्ववादी समीक्षा, दलित समीक्षा, जनवादी समीक्षा, स्त्रीवादी समीक्षा असे समीक्षेचे विविध प्रवाह निर्माण झालेले आहेत. त्याचबरोबर सौंदर्यशास्त्र, शैलीविज्ञान, समाजशास्त्रीय, मानसशास्त्रीय, आदिबंधात्मक, जीवनवादी समीक्षा असे विविध दृष्टिकोन मराठी समीक्षेत आलेले आहेत. या सगळ्या समीक्षाप्रवाहांची

विविध दृष्टिकोनांची चर्चा या ठिकाणी करता येणे शक्य नसल्याने केवळ मार्क्सवादी समीक्षा व दलीत समीक्षा या दोन प्रवाहांचीच आणि ती ही केवळ संक्षिप्त चर्चा इथे अभिप्रेत आहे. अशी या निबंधमाला जाणीवपूर्वक मर्यादा घालणे गरजेचे आहे.

मार्क्सवादी समीक्षा:

मार्क्सवादाचा जगाच्या सामाजिक, सांस्कृतिक, राजकीय, आर्थिक क्षेत्रावर जसा दूरगामी प्रभाव पडला, तसाच जगातील साहित्य, कला व समीक्षेवर फार मोठा प्रभाव पडलेला आहे. जगातील अनेक विचारवंतांनी मार्क्सवादी समीक्षेची मांडणी केलेली आहे. मराठीत अनेक समीक्षकांनी मार्क्सवादी समीक्षासूत्रे सांगितली आहेत. प्रसिद्ध समीक्षक श्री. दिगंबर पाध्ये यांच्या लेखातील[२] विवेचनाच्या आधारे मार्क्सवादी समीक्षेचे स्वरुप संक्षिप्तपणे खालीलप्रमाणे आहे.

मार्क्सवादी समीक्षेने भौतिक परिस्थिती व कला यांचा अन्योन्य संबंध जोडला आहे. आर्थिक संबंध हा समाजाच्या इमारतीचा पाया असतो आणि त्याला पुरक अशी नैतिक, धार्मिक, राजकीय प्रणालीची पायाभूत रचना उभी राहत असते. कला ही या पायाभूत रचनेचाच भाग असते, ही या समीक्षेची प्रमुख भूमिका आहे. सामाजिक परिवर्तनात अंतिम निर्णायक घटक आर्थिक पाया हाच असतो, हा मार्क्सवादी साहित्य विचाराचा महत्त्वाचा दृष्टिकोन आहे.

कोणत्याही साहित्यकृतीचे आकलन त्या साहित्यकृतीचा उगम कोणत्या सामाजिक परिस्थितीत आहे, त्या साहित्यकृतीतून व्यक्त होणाऱ्या नैतिक आशयाचे स्वरुप काय आहे व त्या साहित्य कृतीत प्रतिबिंबीत झालेले वास्तव कोणते व कसे चित्रित झाले आहे, इत्यादी घटकांचा विचार केल्याशिवाय करता येत नाही. ही या समीक्षेची भूमिका आहे. ही समीक्षा साहित्याकृतीला कलावस्तूसह ती एक सांस्कृतिक वस्तूही असल्याचे मान्य करते.

कलावंत, कलाकृती व रसिक ही साहित्य व्यवहाराची तीन अंगे होत, त्यांचा एकमेकांवर परिणाम होत असतो. म्हणून त्यांचे परस्परसंबंध असतात. म्हणूनच साहित्यकृतीचा परिणामही संभवनीय असतो, हा मार्क्सवादी समीक्षेचा प्रमुख आशय आहे. ही समीक्षा कलेला मूलत: 'सर्जन' मानते. या दृष्टिकोनानुसार कला केवळ विचारप्रणालीचे अंग किंवा वास्तवाचे निव्वळ प्रतिबिंब नाही. कारण कलेतून मानवी सृजनशीलतेचा आविष्कार घडत असतो. साहित्य सामाजिक वास्तवापासून मुक्त राहू शकत नाही, म्हणून साहित्याचे सामाजिकदृष्टचा स्वरुप लक्षात घेतल्याशिवाय साहित्याच्या आकलनाला पूर्णता येत नाही, ही मार्क्सवादी समीक्षेची ठोस भूमिका आहे.

साहित्यकृतीतून व्यक्त होणारा आशय समाजपरिवर्तनाला पोषक असेल, त्यातून व्यक्त होणारी नैतिकता जर उदयोन्मुख वर्गाची असेल तर ती साहित्यकृती पुरोगामी आणि नसेल तर ती साहित्यकृती प्रतिगामी ठरते. या भूमिकेनुसार पुरोगामी साहित्यकृती चांगली तर प्रतिगामी साहित्यकृती वाईट ठरते. 'हा समीक्षा विचार साहित्यकृतीच्या सामाजिकतेवर भर देतो, माणूस व्यक्ती म्हणून पूर्णपणे स्वतंत्र राहू शकत नाही. त्याच्या व्यक्तित्त्वाची घडण सामाजिक वास्तवातच होत असते.[३] असे दिगंबर पाध्ये म्हणतात.

अनेक समीक्षकांनी मराठीतील मार्क्सवादी समीक्षा विकसित केली. लालजी पेंडसे यांनी मार्क्सवादी समीक्षेला सुरुवात करुन दिली. पु.य.देशपांडे, बा.र.सुंठणकर यांनी या समीक्षेला वैचारिक भूमिकेची स्पष्टता दिली. ग.बा.सरदार यांनी या समीक्षादृष्टीतून मराठी संतांची सामाजिक फलश्रुती शोधली व या समीक्षेला एक संतचिकित्सा पद्धतीचा वेगळा आयाम प्राप्त करुन दिला. प्रा.दि.के. बेडकरांनी कलावादाची व सृजनशील मानवी अविष्काराची चिकित्सक मूल्यदृष्टी दिली. शरदच्चंद्र मुक्तिबोधींनी कलात्मक स्वायत्तता, सौंदर्यत्त्व आणि मानुषता इत्यादी मूल्यांची भर टाकून या समीक्षेला वेगळे परिमाण प्राप्त करुन दिले. नरहर कुरुंदकरांनी मार्क्सवादी समीक्षेला विशुद्ध व समाजवादी मूल्यव्यवहाराची जोड दिली. दिगंबर पाध्ये यांनी तात्विक बैठक दिली. तर वि.स.जोग यांनी आस्वादक समीक्षेची भर टाकली.

दलित समीक्षा-

डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर यांचे व्यक्तिमत्त्व, तत्त्वज्ञान व त्यांनी प्रत्यक्ष केलेल्या चळवळींची प्रेरणा घेऊन मराठीत 'दलित साहित्य' या नावाने अपरिचित व अभिनव साहित्याचा प्रवाह उदयास आला. जाती अंताचे उद्दिष्ट व समता, स्वातंत्र्य, बंधूता, सामाजिक न्याय व धर्मनिरपेक्षता या मानवी मूल्यांची पेरणी करणाऱ्या दलित साहित्याने मराठी साहित्याच्या प्रदेशात खळबळ उडवून दिली. दलित साहित्याची समीक्षा या साहित्याच्या जन्मापासूनच लिहिली जाऊ लागली. १९५०-६० च्या दरम्यान हे साहित्य मराठीतील एक वेगळा साहित्यप्रवाह म्हणून स्वतंत्र्यपणे उभे राहिले, तेव्हापासूनच या साहित्याची समीक्षाही सिद्ध होवू लागली. आणि स्वतंत्र संमेलनेही भरायला सुरुवात झाली. प्रारंभीच्या १५-२० वर्षांच्या अल्प काळात दा.ता.रुपवते, बी.सी.कांबळे, वसंत मून, म.भी.चिटणीस, म.ना.वानखडे, भालचंद्र फडके, रा.ग.जाधव, केशव मेश्राम, अण्णाभाऊ साठे, अर्जुन नागरे, डॉ. गंगाधर पानतावणे, यशवंत मनोहर, बाबूराव बागुल, राजा ढाले, ताराचंद खांडेकर, वामन लिंबाळकर, रा.भी.जोशी, शंकरराव खरात, वा.ल.कुलकर्णी, प्रा.

अरुण कांबळे, सुरेंद्र बारलिंगे, वि.वा.शिरवाडकर. पू.ल.देशपांडे, वि.स.खांडेकर, बाळकृष्ण कवठेकर, शरद पाटील, मा.फ.गांजरे, घनश्याम तळवटकर, भिमराव करडक, आदी दलित साहित्याची आस्वादक व तात्त्विक समीक्षा लिहीत होते.

आज ३० वर्षांपूर्वी १९७८ ला तर्क तीर्थांनी दलित समीक्षेच्या स्वरुपाची ओळख झाल्याचे नमूद केले होते. तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी तेव्हा म्हणले होते की, 'महाराष्ट्रातील प्रमुख समीक्षकांनी व विचारवंतांनी दलित साहित्यातील प्रेरणा, त्याची सामाजिक व वाङ्मयीन उद्दिष्टे, त्याच्या मूल्यमापनाचे निकष इ. प्रश्नांची वेळोवेळी जिव्हाळ्याने व चिकित्सक दृष्टीने चर्चा केली आहे.'

'दलित समीक्षेचे स्वरुप' या ग्रंथाच्या आधारे दलित समीक्षेच्या स्वरुपाची ओळख करता येते, दलित समीक्षेचे स्वरुप आकलन होण्यासाठी या समीक्षेचे एकूण चार प्रकार पडतात. आस्वादक समीक्षा, साहित्यप्रकारानुरुप समीक्षा, तत्त्वसमीक्षा व सौंदर्यशास्त्र समीक्षेचे स्वरुप समजण्यासाठी काही आधारभूत मुद्यांचाच फक्त उल्लेख करता येईल. विस्तारभयास्तव प्रत्येक मुद्यांचे विश्लेषण येथे हेतुत: टाळण्यात आलेले आहे. ते आधारभूत मुद्दे खालीलप्रमाणे येतील.

१) प्रस्थापित मराठी समीक्षेचा अपुरेपणा

२) स्वतंत्र समीक्षेची गरज व मागणी

३) दलित समीक्षेचे अधिष्ठान

४) दलित साहित्याची प्रेरणा

५) दलित साहित्याची व्याख्या

६) दलित साहित्याचे प्रयोजन

७) दलित साहित्याची पूर्वपरंपरा

८) दलित समीक्षेची पूर्वपरंपरा

९) दलित साहित्याचे वेगळेपण

१०) वेदना विद्रोह नकार स्विकार ही सूत्रे

११) समता स्वातंत्र्य बंधुता न्याय ही मूल्ये

१२) बौद्ध तत्त्वज्ञानाचा आधार

१३) नवीन मिथकांची निर्मिती

१४) सामाजिक मानववंश शास्त्रीय दृष्टीकोन

१५) दलित अभिजनवर्गाची निर्मिती

१६) प्राचीन भारतीय साहित्य व दलित साहित्य

१७) संत साहित्य व दलित साहित्य

१८) प्रस्थापित साहित्य व दलित साहित्य

१९) ग्रामीण साहित्य व दलित साहित्य

२०) मार्क्सवादी साहित्य व दलित साहित्य

२१) स्त्रीवादी साहित्य व दलित साहित्य

२२) निग्रो साहित्य व दलित साहित्य

२३) दलित कलात्मकतेचा विचार

२४) दलित सौंदर्यशास्त्र

२५) शब्द परिवर्तन-आंबेडकरी साहित्य

२६) दलित साहित्यावरील आरोपांची चर्चा

२७) दलित साहित्यातील आवर्ताची चर्चा

२८) प्रस्थापित साहित्याची पुनर्समीक्षा

२९) प्रचलित समीक्षाप्रवाहांचे मूल्यमापन

३०) दलित साहित्याचे आत्मपरीक्षण

३१) दलित समीक्षेची समीक्षा

३२) दलित समीक्षेचे स्वतंत्र अस्तित्त्व

निरीक्षणे

स्वातंत्र्योत्तर मराठी समीक्षाप्रवाहातील मार्क्सवादी समीक्षा व दलित समीक्षा हे दोन समीक्षा प्रवाह प्रभावी व महत्त्वाचे मानले जातात.

विशिष्ट विचार प्रणालीचा अवलंब व ठोस जीवनवादी तत्त्वज्ञानाचा पाया असलेले हे समीक्षप्रवाह एकंदर मराठी साहित्य व समीक्षेच्या क्षेत्रावर फार मोठा प्रभाव पाडणारे समीक्षाप्रवाह म्हणून आज सिद्ध होतात. माणसाचे आर्थिक शोषण करणाऱ्या भांडवलशाही संस्कृतीला नष्ट करुन समान वर्गप्रणालीच्या धर्तीवर नवा समाज घडवू पाहणारा मार्क्सवादी तत्त्वविचार साहित्य व कलेच्या अंगानेही कलात्मक निर्मितीची प्रक्रिया विषम आर्थिक रचनेच्या पायावर अधिष्ठित असल्याने प्रभावित होते व सौंदर्यात्मक अभिरुचीलाही हा प्रभाव ग्रासून टाकतो अशी मांडणी करणारा साहित्य व कलाक्षेत्रातील महत्त्वाचा विचार ठरला आहे. सामाजिक पातळीवर जात या घटकांमुळे व्यक्तीचे होणारे शोषण थांबवून समतेच्या पायावर नवा भारतीय समाज

उभारणे हा आंबेडकरवादी तत्त्वविचार असून कला व साहित्याच्या प्रांतातही जात या अटळ वास्तवाचा प्रादुर्भाव होऊन साहित्य व कला भ्रष्ट होते, म्हणून सामाजिक समतेची जाणीव दृष्टि देणारा आंबेडकरवाद मराठी साहित्याच्या प्रांतातील एक महत्त्वाचा साहित्यविचार म्हणून मान्यता पावला आहे. भारतीय समाजाच्या धर्ममूलक वाङ्यीन अभिरुचीला वेगळे वळण देणारे व समग्र मराठी साहित्याला नवी कूस आणि मूस मिळवून देणारे मार्क्सवादी व दलित साहित्याचे योगदान नमुद करावे लागते.

मार्क्सवादी विचार वर्गबदलास प्राधान्य देतो तर दलित साहित्यातील आंबेडकरवाद वर्गासह जात वर्ण स्त्रिदास्य अंताला प्राधान्य देतो. इथे दोन विचार सरणीच्या तपशिलात भिन्नता असली तरी सामाजिक परिवर्तनाच्या व जीवनवादाच्या पृष्टभूमीवर या दोन विचारप्रणालीमध्ये सारखेपण आहे. मार्क्सवादी समीक्षेने केवळ आर्थिकरचनेच्या पाचावरच आग्रही लक्ष केंद्रित केल्यामुळे मराठी साहित्यातील जातीच्या विषमतेमुळे साहित्यात उमटलेला दुषितपणा या समीक्षेला दिसू शकला नाही. कारण वर्ग बदल झाला म्हणजे वर्ण बदल होतोच असे नाही. म्हणून मार्क्सवादी समीक्षा दृष्टि अशी वर्ण जात बदलाच्या भूमिकेप्रत जावू शकत नाही ही या समीक्षेची अंगभूत मर्यादा आहे.

दलित समीक्षा मराठी समीक्षेच्या क्षेत्रात आपले वेगळे व स्वतंत्र्य अस्तित्त्व निर्माण करणारी समीक्षा असली तरी या समीक्षेला अजुनही व्यवच्छेद तात्त्विक, सैद्धांतिक वेगळेपणा प्राप्त झालेला नाही, ही दलित समीक्षेची मर्यादा आहे.

जागतिकीकरणाच्या परिणामाने आज समाज जीवन ढवळून निघत आहे. मानवी मूल्यांचा सामाजिक तत्त्वांचा व मांगल्यभावनेचा ऱ्हास होत आहे. ही वैफल्यग्रस्त समाजस्थिती मार्क्सवादी व दलित साहित्यसाठी आव्हान म्हणून उभी आहे. या समीक्षाप्रवाहांनी याची योग्य नोंद घेण्याची गरज आहे. मार्क्सवादी व दलित या प्रवाहाच्या साहित्य व समीक्षांचा विवेचनात्मक समग्र इतिहास अजूनही लिहील गेला नाही. या चळवळीतील लेखक समीक्षकांची ही जबाबदारी आहे. दलित साहित्याची कक्षा आदिवासी, इतर जाती जमाती, भटके विमुक्त व बहुजन समाजाच्या संवेदणात्मक चित्रणाने आताच्या सद्यस्थितीपेक्षा अधिक व्यापक होणे गरजेचे आहे, दलित समीक्षेने याकडे गांभीर्याने पहावे. केवळ एकाच जात समूहाच्या परिधात दलित साहित्य घुटमळू नये याची गंभीर दखल दलित समीक्षेने घ्यावी. एकंदर मानवी जीवन जगण्याला व त्या जगण्याच्या परिवर्तनाला चालना देणारे मार्क्सवादी व दलित साहित्यप्रवाह आहेत, याचा पाठपुरावा मार्क्सवादी व दलित समीक्षेने अव्याहतपणे करणे गरजेचे आहे.

संदर्भ-

१) ह. श्री.शेणोलीकर, नवसमीक्षा काही विचार प्रवाह. संपा. गो.म. कुलकर्णी मेहता पब्लिशिंग पुणे १९८२ पृ. ५२

२) दिगंबर पाध्ये, मार्क्सवादी समीक्षाविचार (लेख) नवसमीक्षा काही विचार प्रवाह, पृ. ८८

३) दिगंबर पाध्ये, मार्क्सवादी समीक्षाविचार (लेख) नवसमीक्षा काही विचार प्रवाह, पृ. ९०

४) तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी, (दोन शब्द) दलित साहित्य : एक अभ्यास, संप-अर्जुण डांगळे

५) डॉ. शत्रुघ्न जाधव, दलित समक्षेचे स्वरुप, प्रतिभा प्रकाशन, परभणी

६) शरणकुमार लिंबाळे, मराठी वाङ्मयातील नवीन प्रवाह (संपादन)

●●●

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में वैयक्तिक स्वातन्त्र्य: अस्तित्ववादी अवधारणा

डॉ. वीणा भल्ला



बीसवीं शताब्दी के वैचारिक संक्रमण के फलस्वरुप और इससे भी अधिक साहित्य में शीतयुद्ध के अत्याधिक प्रचार के कारण हिन्दी साहित्य में अस्तित्त्ववादी चिंतन की चर्चा होने लगी । इस दशक में लेखक व्यक्तिवादी विचारधारा की ओर उन्मुख हुए। अस्तित्त्ववादी विचारधारा का सीधा संबंध चूंकि वैयक्तिक सत्ता से है, अत: इन लेखकों का रुझान भी इसी चिंतन की ओर हुआ । हिन्दी साहित्य में भी अस्तित्त्ववादी स्थितियों और शब्द रचनाओं का धडल्ले से प्रयोग होने लगा।

हिन्दी साहित्य में अस्तित्त्ववादी चिन्तन की अभिव्यक्ति न तो दर्शन के सूत्र में हुई और न ही रचनात्मक साहित्य के सन्दर्भ में। हाँ इतना अवश्य है कि नयी कविता के अभ्युदय के बाद इस चिन्तन को साहित्य में आम मुहावरे के रुप में अथवा कुछ परिभाषिक शब्दों के प्रयोग में अपनाया गया। ऊब, ऊनकाई, संत्रास, आत्महत्या की चाह, वैयक्तिक स्वातंन्त्र्य, अजनबीपन, अकेलापन, मृत्युसाक्षात्कार के क्षण आदि के अहसास से उत्पन्न होने की परेशानी आदि लक्षण इस नयी कविता लिखने वाले लेखकों में देखे जा सकते हैं।

वास्तव में इस चिंतन के हिन्दी साहित्य जगत में अपनाने का कुछ विशेष आग्रह न होकर मात्र नए का आकर्षण है।इस नए के आकर्षण का ही परिणाम है कि यहाँ अस्तित्ववादी चिन्तन का कृत्रिम व ओढ़ा हुआ रुप ही दिखायी पड़ता है। हिन्दी साहित्य में अस्तित्त्ववाद की मूल प्रेरणाओं और वैचारिक आग्रहों को बहुत सही ढंग से नहीं समझा जा सका। परिणामत: यह चिन्तन कलाकारों में अपेक्षित सर्जनात्मक ऊर्जा तो पैदा न कर सका, किन्तु उनके आम मुहावरे के आकर्षण के कारण साहित्य में अवश्य उतर गया।

इस चिन्तन के साहित्य प्रचारकों- सार्त्र, कॉमू, और काफका को साहित्यिक कृतियों के प्रति विशेष आकर्षण ही अस्तित्ववाद के प्रभाव का मुख्य कारण बना।

सार्त्र आदि विचारों ने अस्तित्त्ववादी चिन्तन को आन्दोलन का रुप दिया जिससे युरोप का ही नही, विश्व का चिंतन और साहित्य प्रभावित हुआ। सार्त्र के अनुसार- यद्यपि हमारे कार्य हमारी मृत्यु द्वारा सीमित होते हैं, किन्तु हम अपने कार्यो की पूर्णत: के लिए अन्य लोगों की सहायता ले सकते है। वे अपने सहयोगियों को 'कमरेड्स इन आरम्स' की सज्ञा देते है।

'अमूर्त की पारंपारिक कल्पना' और 'समान मानवीय प्रकृति' को अलविदा कहते हुए अस्तित्त्ववाद ने स्पष्ट किया कि हर व्यक्ति अपने में एक अलग इकाइयो है और सभी इकार्यो के बीच एकही जैसी प्रकृति की स्थापना-'बुद्धि का विलास' तो हो सकती है, सत्य का निरुपण नही। अस्तित्ववाद के कारण मानवमूल्य न शाश्वत होते है न सार्वभौम। उसने मान्यता दी कि मनुष्य को उन मूल्यों को मानने के लिए मजबूर नही किया जाना चाहिए जिनका चयन उसने स्वयं न किया हो। कोई भी व्यक्ति स्वयं के द्वारा निर्णीत मूल्यों और उनके अनुसार किए गए कार्यों के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, अन्य के लिए नहीं। यही कारण है कि अस्तित्ववाद के जहाँ एक ओर बुर्जुआ बनावटीपन, आर्थिक शोषण उपनिवेशवाद, तथा रंगभेद की नीति का विरोध किया वही दुसरी ओर उसने'कंसेंट्रेशन कॅम्पस' और 'लिस्विडेशन प्रणाली' को भी अमानवीय बताया। अस्तित्ववाद ने इस बात का प्रतिपादन किया कि मनुष्य ही प्रश्न करनेवाला जीव है, अन्य प्राणी नहीं। विशिष्ट प्राणी होने के कारण मनुष्य बराबर प्रश्न करता रहता है तथा सन्देह और आश्चर्य की स्थिती में जीवन जीता है। यही कारण है कि अस्तित्त्ववाद मनुष्य को ही प्रत्येक चिंतन का केन्द्र मानता है। उसकी मान्यता है कि हर प्रकार का चिंतन मनुष्य से ही आरंभ होता है। और मनुष्य के साथ उसका अन्त होता है।

सार्त्र के शब्दों में व्यक्ति अपनी पूरी संचेतना तथा जिम्मेदारी से अपने को प्रायोजित भविष्य की ओर ले जाता है। 'कामरेड्स इन आरम्स' के विचार को ध्यान में रखते हुए सार्त्र इस बात की पुष्टि करता है कि व्यक्ति को अपने लिए ही नहीं, सबके लिए वरण करना पड़ता है। इस चिन्तन के अनुसार अस्तित्त्व का अर्थ है आत्मिकता अर्थात् अपने 'स्व' का प्रत्यक्ष बोध जो स्वतन्त्र प्रतिबद्धता को अनिवार्य समझने और सभी मूल्यों का मूलआधार 'चयन की स्वतंत्रता' को ही माने।

युरोप के प्रबुद्ध विचारकों का मानना था कि मानव निमार्ण को केवल राजनीति की परिभाषाओं में ही समझा जा सकता है। भारतीय मानस राजनीति को भी धर्म के माध्यम से समझने का प्रयास करते है। महात्मागांधी ने राजनीति को नैतिक प्रतिमानों से सम्बद्ध कर समूचे राष्ट्र की आत्मा को छू लिया। नित्शे के अपनी पुस्तक 'Beyond Good & Evil' मे असत्य को जीवन की एक अनिवार्य शर्त माना है और गांधीजी ने अपनी आत्मकथा 'My Experiments of Truth' में

सत्य को ही परमेश्वर कहा है । नीत्शे सदृश विचारकों के कारण पश्चिमी मानव नैतिक मूल्यों के परे एक ऐसा प्राणी है जो असत्य को सत्ता प्राप्ति का साधन मानता है किन्तु ऐसी स्थिती भारत में नहीं आने पाई। एक और बात जो भारत के साधारण मनुष्य को पश्चिम के सामान्य व्यक्ति से अलग करती है वह थी, भारतीय सामान्य जन में निजस्व की कमी । इस कमी को वह अपने आरोपित सिद्धांतोद्वारा पूरा कर रहा था कि आजादी की लडाई का बिगुल बज उठा। जो लोग इस राष्ट्रीय स्वतंत्र्यता संग्राम में लगे थे उन्हे उचित-अनुचित मूल्यों के बीच अंतर समझने का समय ही न था। नारों और जूलुसों के बीच सोचने और समझने वाले को मूर्ख और देशद्रोही माना जाता था। ऐसे संक्रमण कज्ञाल मे निजस्व की कल्पना और अस्तित्त्व था आग्रह, मात्र दुराग्रह ही माना जा सकता था। साथ ही भारतीय समाज में अस्तित्त्व को उस अर्थ में ग्रहण नहीं किया गया जिस अर्थ में पश्चिम देशो में।

यद्यपि भारत में यांत्रिकता, औद्योगीकरण और गौड़ संस्कृति का इतना प्रचार-प्रसार नहीं रहा और अस्तित्त्व पर संकट दिखाई नहीं पड़ा जो युरोप में। किन्तु एक विदेशी सत्ता द्वारा पराजय, शोषण और अवधारणा के कारण भारतीय जन-जीवन में गहरी वेदना अवश्य बस गयी। पहला अथवा दूसरा महायुद्ध यद्यपि भारत की भूमि पर नहीं लड़ा गया था किन्तु उसका परिणाम समुचे संसार मे पड़ा और भारत इससे अछूता न रह सका।

भारत विभाजन से उत्पन्न कठिनाइयों ने भी इस असुरक्षा की भावना को प्रबल किया। एक बहुत बडे जन-समुदाय की चिकनी कोमलता वास्तविकता की कठोरता में बदल गयी। सत्ता का युग आते ही आदर्शो की भव्यता निस्तेज पड़ने लगी और सारी परिस्थियों में अंतनिर्हित असंगति और अविवेक स्पष्ट प्रकट होने लगे चारो ओर भयानक विघटन एवं गहन निराशा दिखाई पड़ने लगी। साधारण मनुष्य को लगा कि उसका सारा कर्म उसके अपने चिंतन और विवेक से उद्भूत होना चाहिए । वह अपने कर्म के लिए स्वयं उत्तरदायी होने की बात सोचने लगा। अपने हिताहित को सोचता समझता साधारण भारतीय आत्मकेन्द्रीत होने लगा। यह सत्य है कि भारत में भी बढ़ते हुए औद्योगिकरण, नौकरशाही व सम्बनधों मे परिवर्तन के कारण उत्पन्न तनाव की स्थितयाँ व्यक्ति को निराश किए हुए है, लेकिन हिन्दी साहित्य में इन शब्दो का प्रयोग पश्चिमी साहित्य के प्रमाणस्वरुप ही हुआ। इसलिए आधुनिक उपन्यास के संदर्भ में जब-जब चर्चा हुयी, उसके साथ ही संत्रास, अकेलापन, वैयक्तिक स्वातत्र्य, मृत्युबोध एवं क्षण आदि शब्दों को अनायास ही जोड दिया गया। ये शब्द स्वातंत्र्योत्तर औपन्यासिक कथ्य की संवेदना को अभिव्यक्त करते है।

स्वातंत्र्योत्तर-औपन्यासिक वस्तुस्थिति में पूर्वर्ती सामाजिक उपन्यासो की उपेक्षा 'वैयक्तिक-स्वातंत्र्य' अधिक बल दिया जाने लगा। सामाजिक, नैतिक व धार्मिक परिवेश की अपेक्षा व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्त्व की तलाश की ओर आधुनिक औपन्यासिक वस्तु की रुझान बढ़ी. यो तो छायावादी युग मे ही व्यक्ति को महत्त्व मिलने लगा था, लेकिन 'व्यक्तिचेतना' अंतत: 'समष्टिचेतना' की ओर अग्रसर होती रही। समष्टि चेतना के प्रति इस उदारता के कारण ही प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल आदि के उपन्यासों में 'वैयक्तिक-स्वातंत्र्य' की भावना समस्त प्राचीन धारणाओं एवं व्यवस्थाओं को नकारती हुई 'अस्तित्वगत स्वतंत्रता' के रुप में प्रतिष्ठित हुई।

तो क्या 'वैयक्तिक-स्वातंत्र्य' जो आज के उपन्यासों का वैचारिक बिन्दु है, अस्तित्त्ववादी चिंतन में स्वीकृत स्वातंत्र्य का पर्याय है? इन उपन्यासकारोंने उपन्यासों के स्वतन्त्रता के प्रश्न को उठाया तो अवश्य है, जो अपने में एक नया प्रयास भी है, लेकिन वह अस्तित्त्ववादी स्वतंत्रता का पर्याय नही। अस्तित्त्ववादी विचार स्वतंत्रता को निरपेक्ष मूल्य मानते हुए उसकी दार्शनिक विवेचना करते है, जब कि इन हिन्दी उपन्यासों मे एक ओर तो स्वतंत्रता को चरण मूल्य और दूसरी ओर समाज-सापेक्ष मूल्य के रुप मे स्वीकार किया गया है। दोनों ही रुपो मे उनकी स्वतंत्रता का क्या रुप है? यह विवेच्य विषय है।

स्वतंत्रता की खोज के प्रश्न के प्रति प्रतिबद्ध इन उपन्यासों के पात्र सामाजिक परिवेश की अपेक्षा वैयक्तिक परिवेश मे ही अस्तित्त्वता का अर्थ पाना चाहते है। पात्र अपनी पहचान 'मानव रुप में नही 'व्यक्ति' अथवा 'द्वीप' में कराते है नियमीत एवं परिपाटीबद्ध जीवन को अस्वीकार कर वैयक्तिक-अनुभूति के आधार पर जीवन का संचालन करना ही इनकी 'वैयक्तिक-स्वतंत्रता' का मानदंड है। पात्र शेखर तो जीवन के आरंभकाल से ही समस्त सामाजिक मान्यताओं को अस्वीकार करता रहा है। वह समाज की इकाई तो है, लेकिन उसका समूचा आग्रह समाज पर नही, इकाई पर है। शेखर के जीवन की घटनाएँ आरंभ से ही उसे 'व्यक्ति' पहले बनाती है; किसी संगठन का सदस्य पीछे। उपन्यास के आरंभ में ही शेखर अपने अभिन्नतम निजी दस्तावेज (ए रिकार्ड ऑफ पर्सनल सफरिंग) है। शेखर की यह पर्सनल सफरिंग ही उसे नैतिक प्रतिबद्धताओं के विरुद्ध स्वतंत्र व्यक्ति बनाती है। वैयक्तिक अनुभव ही उसके व्यक्तित्त्व का निर्माण करते है

शेखर दुसरों की सोची हुई बातों से आश्वस्त नही होता। उसके जीवन की स्थितीयॉ उसे आत्मज्ञान करा देती है कि कोई ऐसा नहीं जिस पर निर्भर रहा जा सके। बाबा मदनसिंह का सूत्र-'हर एक को अपना रास्ता खुद बनाना चाहिए'।- शेखर की वैयक्तिक स्वतंत्रता को बल देता है।

'नदी के द्वीप की रेखा किसी सामाजिक नियम को अपने जीवन में स्वीकार नहीं करती असंपृक्त द्वीप'- एक इकाई के रुप में जीना ही उसकी वैयक्तिक स्वतंत्रता है। भुवन से जुडकर भी रेखा उससे अलग इकाई के रुप मे जीती है। भुवन और अपने संबंधों को यह कोई नाम रुप देना नही चाहती। 'वे दिन' की रायना अपने साथ अतीत के किसी भी संबंध को , घटना को अपने हर अतीत की पहचान तक को स्मृतिपटल से मिटाती जाती है। 'सदैव पहिले जैसी होने' के लिए अपने पति के सहवास के दिनों को भी भूलना चाहती है। अपनी अस्तित्वगत स्वतंत्रता की स्थापना 'में सिर्फ रायना हूँ'वाक्य से करती हुई 'मिसेस रेमान' के सम्बोधन को भी अस्वीकार करती है।

उपन्यास के पात्र अधिक कुछ जानना ही नही चाहते। इसीलिए वह एक-दूसरे के लिए 'अँधेरा' बने हुए हैं।

'अजय की डायरी' की दीपिका सब कुछ जाना-पहचानना तो चाहती है, किंतु अपने अस्तित्त्व को निश्चित ढर्रे से बांधना नही चाहती। स्वतंत्रता क प्रति उसकी सजगता सामान्य मानव प्रकृति को भी स्वीकार नही करती-इसी उपन्यास की पात्र हेम हर किसी की 'प्राइवेसी' के अधिकार को महत्त्व देती हुई समाज एवं बहुमत की निर्भरता व दबाव का विरोध करती है। समाज व मानवता का पक्षपाती अजय भी नहीं। छलावा मानता है ,उसका मानना है मैं मानवता के लिए नहीं जी सकता। मानवता झूठ है,धोखा है, छलावा है।

बहुमत एवं समाज के ढर्रे पर चलनेवाली जिंदगी को डॉ. देवराज के उपन्यास 'मैं वे और आप' का पात्र निगम जो किसी संदर्भ, सिस्टम व व्यवस्था का विश्वासी नही, मानवता की पुकार के समस्त नारे वेमानी और अर्थहीन मानता है-वैयक्तिक-स्वतंत्र्य के लिए निश्चित ढर्रे व स्थिरता को अस्वीकार की सत्ता बनाते है- 'जिंदगी का अर्थ है आंदोलन, बेचैनी, सुकून और संतूलन का अभाव'। डॉ.रघुवंश के लिए 'तंतुजाल' के जोड़ द्वारा अपनी स्वतंत्रता को पाना चाहती है। 'अर्थहीन' की राजलक्ष्मी भयानक परिस्थितीयों में भी अडिग, समझौता न करते हुए अपने अस्तित्त्व की स्वतंत्रता को बनाए रखती है।

वैयक्तिक-स्वातंत्र्य की भावना से आक्रांत 'अंधेरे बंद कमरे' की नीलिमा को निर्भरता स्वीकार्य नहीं- में अकेली रहकर भी किसी तरह जिंदगी जी लूँगी। मैं उस पर बोझ नहीं बनना चाहती। कार्य कारण की श्रृखंला एवं व्यवस्था से मुक्त होना ही नीलिमा की स्वतंत्रता है। समाज द्वारा दिया गया 'पत्नी' संबंध उसे स्वीकार्य नहीं । इसे वह दकियानूसी विचार मानती है। वैयक्तिक-स्वातंत्र्य की चेतना 'आपका बंटी' की शकुन में भी है। शकुन अपने पति अजय के 'पोज़ेसिव' स्वभाव को अपने पर हावी नहीं होने देना चाहती।

अजय व शकुन में 'एडजेस्टमेंट' की कमी, दोनों को मुक्त जीवन जीने के लिए प्रेरित करती है। संबंधों को निभाने के खातिर वह कहीं भी अपने को मारना नहीं चाहती। यहाँ तक कि बंटी और डॉ. जोशी को भी अपने वैयक्तिक-स्वातंत्र्य की अधिकार सीमा में नही आने देना चाहती।

इन उपन्यासों मे 'वैयक्तिक-स्वातंत्र्य'अपेक्षाकृत अधिक मुखर तो हुआ, किन्तु इनमें अस्तित्ववादी विचारधारा के अनरुप स्वतंत्रता को जीवन निरपेक्ष मूल्य स्वीकार नहीं किया गया। पात्र हर क्षण 'वैयक्तिक-स्वातंत्र्यता' की घोषणा तो करते है, लेकिन स्वतंत्रता को चरम मूल्यों की उपलब्धि का मात्र साधन मानते हैं उपन्यास के पात्र 'वैयक्तिक-स्वातंत्र्यता' को समाज से काटकर नहीं, समाज में ही रहकर प्राप्त करना चाहते है। जहॉ एक ओर वह 'पर्सनल सफरिंग' की बात करते है वही उनमें 'मेरा समाज और युग बोलता है' 'वह मेरे और शेखर के युग का प्रतिक है'। 'वैयक्तिक-स्वातंत्रता' उन्हे समाज से कही अलग नहीं कर पाया। रेखा अपने वैयक्तिक जीवन मे भी समाज की कल्पना (सोशल कॉन्सॅप्ट) को नहीं भुला पाती। उसका गर्भपात कराना इसी सोशल कॉन्सॅप्ट की भूमिका है। भुवन के जीवन की बाधा न बनकर भी, उससे मुक्त होकर भी कहीं अंतर्मन में उसी से जुड़ी रहना चाहती है- प्रवाह से कटकर उसका अस्तित्त्व ही नही। 'अपने अपने अजनबी' की सेल्मा का विश्वास-वास्तव में स्वतंत्र है कौन? कोई भी नही। न तो हम अकेले है, न हम स्वतंत्र है। बल्कि अकेले नहीं अकेले नहीं और हो ही नहीं सकते, इसलिए स्वतंत्र है। अपना रास्ता खुद बनानेवाला शेखर भी यह अनुभव करता है , इतना विशिष्ट एवं इतना एकांत वह नहीं कि दूसरे लोग उसमें रुचि न ले सकें।

इन उपन्यासों में वैयक्तिक-स्वातंत्र्य के नाम से आए अंतविरोधी के कारण पात्रों का सही दृष्टिकोन प्राप्त नहीं होता।अस्तित्त्ववादी चिंतन में 'स्वतंत्रता का विशेष अर्थ है। लेकिन इधर के उपन्यासों में 'स्वतंत्रता' किसी ठोस मूल्य की अपेक्षा चेतनात्मक धरातल पर वर्णित है। अस्तित्त्व चिंतन में स्वीकृत 'पूर्ण' स्वतंत्रता प्रश्न अपने सही संदर्भो में हिंदी के इन उपन्यासों में अर्थ नही पा सका। अस्तित्ववाद में 'वरण स्वतंत्रता' को एक अविच्छिन्न मूल्य अथवा दायित्त्व के रुप में स्वीकार किया गया है; वह हिंदी के इन व्यक्तिवादी उपन्यासों में पूरी तरह प्रतिफलित नहीं होता।

सार्त्र के अनुसार, 'वरण की स्वतंत्रता' व्यक्ति को खुद के प्रति जिम्मेदार बनाती है, इसलिए वह अनिवार्यत: दूसरों के प्रति भी जिम्मेदार होगा। लेकिन इधर के उपन्यासों में स्वतंत्रता के प्रति अंतर्विरोध के कारण दायित्वबोध की अपेक्षा वैयक्तिक-स्वतंत्र्य को अधिक महत्व मिला। अगर व्यक्ति सभी प्रकार के नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों से विच्छीन्न होकर या सिर्फ खुद के प्रति जिम्मेदारी रखता है तो यह

जिम्मेदारी इस बात की कतई कोई 'गारंटी' नहीं देती कि वह दूसरों के प्रति भी समान रुप से जिम्मेदार होगा ही।'शेखर: एक जीवनी' में शशि की 'अमानवीय ट्रेजेडी' शेखर की अनियंत्रित स्वतंत्रता का ही परिणाम है, जिसकी तीखी आलोचना नंददुलारे वाजपेयी जैसे आलोचक को भी करनी पड़ी। समाज व व्यवस्था के दकियानूसी मूल्यों के विरुद्ध अनियंत्रित वैयक्तिक-स्वतंत्र्य 'नदी के द्वीप', 'एक पति के नोट्स', 'मछली मरी हुई', 'सूरजमुखी अंधेरे के' उपन्यासों में अकसर देखने को मिलती है। इन उपन्यासों में वैयक्तिक-स्वतंत्र्य के नाम पर स्वछंद सेक्स-भोग की प्रवृत्ति एवं 'फुलफिलमेंट' (क्षणिक ही सही) की सेक्स-संबंधी विकृतियाँ ही अभीष्ट रही है।

आखिर स्वतंत्र्यता किससे? इस प्रश्न का उत्तर स्वातंत्र्योत्तर औपन्यासिक वस्तु में कही स्पष्ट नहीं। समाज के प्रति ने तो कहीं पात्रों का विद्रोह है और न ही कहीं उनके जीवन में समाज विरोधी विकृतियाँ ही आड़े आई। यहाँ समाज, नैतिकता, व्यवस्था कहीं किसी के विरुद्ध कोई आवाज नहीं। पात्र इन सबसे उदासीन, तुलियन बाग में, कश्मीर की घाटीयों में, बर्फघर में, प्राग के रेस्टोरेंट, बुडापेस्ट अथवा स्वीमिंगपूल पर अपने ही आंतरिक अंतर्द्वंद्वों से पीड़ित अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के हिमायती है। शेखर अवश्य ही इस या उस दुर्व्यवस्था से पीड़ित है, लेकिन कहीं वह उस अवस्था के विरुद्ध आवाज नहीं उठाता। समाज को बदल डालने की कसम तो लेता है, लेकिन कहीं समाज को बदल नहीं सका।

प्रेमचंद के उपन्यासों में 'स्वतंत्रता' का अर्थ आज़ादी के संदर्भ में लिया जाता रहा है। जहाँ व्यक्ति सामाजिक, आर्थिक व नैतिक धरातल पर टूट रहा था। वह समस्त शोषणों और विपत्तियों से त्राण पाना चाहता था , जिसमें कार्य-कारण संबंध भी निहित था। 'गोदाम' का होरी निरंतर इन शोषणों व मानव को परतंत्र करनेवाली शक्तियों के विरुद्ध कुछ दबे स्वर में लड़ता रहा। यह लड़ाई गोबर के माध्यम से मुखर भी हुई। प्रेमचंद अपने समय में फैले सामंतवाद व पूँजीवाद के विरुद्ध मानवीय स्वतंत्रता के पक्षपाती रहे तथा उन मानवीय मूल्यों को अर्थ देते रहे जो पूरे युग की आवाज थी। 'स्वतंत्र्यता' का संदर्भ उनके उपन्यासों में व्यक्ति के रुप में नही, मानव के रुप में उभरा। १९५० के बाद इन उपन्यासों में वैयक्तिक स्वातंत्र्य की भावना ऐतिहासिक संदर्भहीन स्वार्थ केंद्रित अधिक है।

ये उपन्यास न तो प्रेमचंद युगीन समाजिक संदर्भ में स्वतंत्रता पर टिक सके और न ही अस्तित्ववादी वैयक्तिक स्वातंत्र्य को अपना सके। एक धारा (सामाजिक) से मुक्त होने और दुसरी (अस्तित्ववादी) के प्रति रुझान की कशमकश में वे अंतत: 'सर्वनिषेध' भाव से आक्रांत 'गुनाहों का देवता' अवश्य बने।

स्वातंत्र्योत्तर औपन्यासिक पात्र परंपरागत सामाजिक-नैतिक संबंध का अस्वीकार करते हुए मानवीय संबंध के नए आयाम का अन्वेषण करते जान पड़ते है। प्रेमचंद के उपन्यासों में संबंध और अनुभव की सार्थकता निश्चित सामाजिक-नैतिक परंपराओं के आधार पर स्वीकार की जाती रही है। यशपाल और जैनेंद्र के औपन्यासिक चरित्रों में परंपरागत संबंध की परिचित स्थिति भूमिका का ह्रास तो हुआ, लेकिन प्रत्यात्मक सिद्धांत की जकड़बंदी से ये पात स्वतंत्र न हो सके। इनके बाद के उपन्यासों चरित्र-निर्माण के स्थान पर व्यक्ति-वैशिष्ट्य की धारणा उभरी। व्यक्ति अपने वैशिष्ट के साथ अपने ही परिवेश में समस्त, विषमताओं, विसंगतियों और जटिलताओं के बावजूद अपने अस्तित्त्व की स्थितियों में जीने लगा। समाज द्वारा आरोपित और खोखली मान्यताओं तथा नैतिकता को नकारता हुआ वह वैयक्तिक-नैतिकता को प्रश्रय देने लगा। वैयक्तिक नैतिकता तथा समाज द्वारा स्वीकृत नैतिकता के अंतसंघर्ष के बीच अपने जीवन को 'जस्टीफाई' करने में लगा व्यक्ति धीरे-धीरे समस्त संपर्क सूत्रों से कटता चला गया। फलत: संबंध और अनुभव की प्रामाणिकता परंपरागत प्रतिमानों की अपेक्षा शारीरिक माँग और व्यक्ति केंद्रित बुद्धि द्वारा निर्धारित होने लगी।

अस्तित्त्व की इसी स्वतंत्रता को बनाए रखने की 'ऐस्थेटिक ग्रेस' रेखा और रायना के चरित्र की विशेषता है। इसीलिए उलझी मन:स्थिती के बीच भी रेखा अपने अद्वितीय व्यक्तित्त्व को प्रामाणित करती है। 'फुलफिलमेंट' के बाद पुन: वह अपने को सही परिप्रेक्ष्य में देखने लगती है। रायना के लिए अनुभव के यह क्षण मात्र अपने अकेलेपन को मिटाने का एक साधन है जिसमें वह डूबना नहीं चाहती। मै ज्यादा दिन अकेली नही रह सकती। लेकिन इसमें वह किसी दूसरे को भी 'मिजरबेल' नही होने देना चाहती-मैं सिर्फ यह चाहती हूँ कि दूसरे को बाद मे पछतावा न हो 'दैन इट इज मिज़री'। 'मैं' और 'रायना' एक-दूसरे की अपहचान में जुड़ते हुए भी कहीं गहरे में पहचान को टटोलते हैं। चरम क्षणों में किसी भी संबंध को नाकारते हुए अपने अस्तित्त्व की सत्ता बनाए रखना ही इन 'पात्रो के चरित्र की अद्वितीयता है'।

अस्तित्त्ववादी पात्र इंद्रियजनित अनुभूतियों के साथ चेतनागत अनुभूति को महत्त्व देते हैं। पात्र अपनी रुचि-अरुचि के विषय में कोई स्पष्टीकरण नही देतें और न ही उनका कोई कारण ही । पात्र सहज भोलेपन (इनोसेंस) से ही अपने अनुभवों को प्राप्त करते चले जाते है। कामू पात्र के इसी इनोमेंट व्यवहार को महत्त्व देते है। यही कारण है कि उनके पात्र कुछ हद तक इनोसेंट भी है। जबकी हिंदी उपन्यासों के पात्रों मे अकसर चेतनागत अनुभूति को महत्त्व नही मिला। इनका अनुभव शुद्ध इंद्रियजनित है जो उन्हें सेक्स-प्रवृत्ति की ओर ले जाता

है। इनकी रुचि-अरुचि का कोई ठोस आधार नहीं। मात्र वैयक्तिक रुचि-अरुचि के कारण दूसरे के अस्तित्त्व को महत्व ही नही दिया जाता। पात्र जहाँ अपनी रुचि के विपरीत कुछ पाते है वहीं वह कटने लगते है।

स्वातंत्र्योत्तर औपन्यासिक पात्र परंपरागत प्रतिमानों व सामाजिक असंगतियों के विरुद्ध वैयक्तिक अनुभवों और संबंध के कारण अस्तित्त्वगत सुरक्षा का प्रयत्न तो करते है, लेकिन अपने इस प्रयत्न में न तो वह पूर्णत: परंपरागत दृष्टिकोण से अलग हो पाए और न ही अस्तित्ववादी चरित्र ही बने अपितु एक अकुलाहट लिये इसी द्वंद्वात्मक स्थिति के बीच घिरे अपनी वास्तविकता को पूरी तरह प्रामाणित भी नहीं कर पाए। हॉ, अपने इस प्रयत्न में वह यौन-संबंधों अथवा स्त्री-पुरुषों के बीच उत्पन्न 'टेन्शन' का विस्तृत विवरण अवश्य देते रहे।

स्वातंत्र्योत्तर औपन्यासिक संरचना में अनुभूति की भिन्न धारणा ने परंपरागत कथा-संगठन को परिवर्तीत किया।

कथा-संगठन की समस्त परंपरागत धारणाओं की अपेक्षा व्यक्तिगत क्षणिक अनुभूतियों के 'इंप्रेशन' को औपन्यासिक संरचना में अधिक महत्त्व मिला। अत: औपन्यासिक-संरचना में घटना, क्रिया-व्यापार और चरित्र के संबंध विकासक्रम में न होकर पहलू के रुप में चित्रित हुए। जीवन का एक लघु प्रसंग, मूड, विचार अथवा विशिष्ट व्यक्ति-चरित्र ही कथानक बन गया अथवा उसमें कथानक की क्षमता मान ली गई।'लाल टीन की छत' विशिष्ट संवेदना उसकी सघनता के कारण उपन्यास की आंतरिक बुनावट करती है। उपन्यास में न चरित्र का महत्त्व है, न औपन्यासिक संरचना का, जो कुछ महत्त्व है वह उस 'प्राइवेसी' का ही है। जो कुछ रहस्य है, वह अँधेरे व्यक्तिगत कोनो का ही है।

उपन्यासों में किसी विचार अथवा दर्शन की अपेक्षा तात्कालिक संवेदना को महत्त्व देने से भाषा भी संवेदन विशिष्ट हुई। इस कारण वह दुर्बोध और जटिल बनती गई। बनी-बनाई धारणा की अपेक्षा बौद्धिक विलास की अभिव्यक्ति के कारण भाषा कहीं अधिक भारी होती गई है। प्रतीकात्मक और बिंबों का प्रयोग होने पर भी भाषा सतत वेगमयी ऐसी भावधारा है जो औपन्यासिक वस्तु के अनुसार ही अपना रुप गढ़ती चली जा रही है। अनुभूति की निरंतरता का न होना (जो कॉमू के एब्सर्ड चिंतन का मुख्य विषय है।) उसकी सोची-समझी असंगत शैली का प्रमाण है। कामू यह कहकर नहीं बताना कि स्थितियाँ एब्सर्ड होती है। अपितु शब्दावली व वाक्य-विन्यास के द्वारा वह इसका अनुमान करवाता है कि मानवीय स्थितियों खंडित और तात्कालिक (एब्रप्ट) होती है।

'वे दिन' में घटित घटनाविहीन निरर्थक जीवन तथा भय से आक्रांत पात्रों की मानसिकता के लिए निर्मल वर्मा ने भाषा को भी अधिक-से-अधिक संवेदनशील बनाया है।

भाषा की व्यंजकता अन्तर्वस्तु को निर्मित नही करती अपितु स्वतंन्त्र विकल्प रुप में प्रस्तुत होती है। भाषा कही बेलौस और संश्लिप्ट हो गई है। निर्मल वर्मा ने युद्धोत्तर खालीपन की जिस मन:स्थिति को अपने उपन्यास का केंद्र बनाया उसकी अभिव्यक्ति भाषा की इस तनावपूर्ण संरचना के कारण ही संबंध हो पाई है। निर्मल वर्मा के उपन्यासों की भाषा अपने बौद्धिकीकरण और अपनी जटिलता में भी पाठक को बाँधे रखती है।

संप्रेषण की प्रक्रिया में भाषा विशिष्ट और सामान्य के द्वंद मे कलात्मक अभिव्यक्ति करती है। यहाँ भाषा सामान्य नहीं मात्र अद्वितीय और विशिष्ट की अभिव्यक्ति करती है, इसीलिए भाषा व्यक्तिगत होती गई है। जैसे अनुभव में 'प्राइवेसी' है उसी तरह भाषा में भी एक तरह की प्राइवेसी की भूमिका है। कामू ने अपने पात्र म्योरसाँ की मनोदशा को दर्शाया है। म्योरसाँ एक सोशल आऊटसाइडर है क्योंकि वह समाज में प्रचलित शब्दों के परंपरागत अर्थ का प्रयोग न कर अपनी शब्दावली की रचना करता है और उन्हें नया अर्थ देता है। वह 'भाषा की प्राईवेसी की भूमिका सजीव हो उठी है'। भुवन और रेखा के यौन-संबंधो को 'फुलफिलमेंट' कहना, गर्भस्थ-शिशु को 'सर्जनवायलिस्ट' या 'बीनकार' के नाम से सम्बोधित करना, गौरा का भुवन को 'स्नेहशिशु' कहना तथा भुवन का गौरा को 'जुगनू' तथा शेखर का शशि को 'जीवन की सिद्धि' कहना संबंधो के बीच प्राइवसी को स्पष्ट करते है। भाषा का प्राइवेसी का गुण ही उपन्यास के सौष्ठव की वृद्धि करता है। 'नदी के द्वीप' में कांटेंट (वस्तु) दुर्बलता से बहुत काम लोगों को इनकार है, पर उसकी आकर्षक भाषा, उसकी कला के सौष्ठव और उसकी मनोरंजकता को सभी स्वाकारते है। भावाभूति क चित्रण के कारण भाषा की सघनता एवं तरलता का अद्भुत सम्मिरण हुआ है। 'सूक्ष्म-से सूक्ष्म भावनाओं और विचारों को प्रखरता के साथ अभिव्यक्त करने की दृष्टि से 'नदी के द्वीप' बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृति है'।

इन उपन्यासों में यौन-संबंध भाषा को बेझिझक बनाते है। यौन व्यवहारों में प्रकृति के उपकरणों के प्रयोग की अपेक्षा खुला चित्रण व अवकुंठित भाषा में प्रस्तुत करके भाषा की सीमाओं को तोड़ता है। उपन्यासों में भाषा के परंपरागत सौंदर्य-बोध पर प्रहार करके एक प्रसाधनहीन, किंतु चुभती भाषा को प्रस्तुत किया गया है।

जहाँ एक ओर इन उपन्यासों में भाषा की परंपरागत सीमाएँ टूटती हैं वहीं दुसरी ओर अत्यंत निजी प्रसंगो को व्यक्त करने के कारण दूसरी सीमाएँ बनने लगती है।

●●●

Modernism and Indian Writing in English

Dr. Satish Deshpande



The existence of any Indian literary tradition has been doubted by many because of the peculiar Indian situation. India is a multi-lingual country with more than 4000 dialects. There are several language traditions which have been developing simultaneously in the Indian cultural context However in spite of the diversity there appears to be a common cultural stream going on throughout the Indian sub-continent.Althogh the Europeans evolved the concept of Nation in the Nineteenth century. In India there has been an awareness of cultural unity from ancient times. It is evident in the following couplet from Vishnupuran:

Uttaram yat Samudrasya Himadreschaiv Dakshinam

Varsh tad Bharati nam Bharati yatra Saskruti

Even the following remarks attributed to ShriRam indicate that the concept of Motherland was clearly established in those days:

Api swarnamayi Lanka na me Laxman rochate

Janani Jnmabhoomisch swargadapi gariyasi

It is therefore important to accept that these notions did exist in ancient India. It is pointless to say that these notions were developed by the Europeans in the Nineteenth century.

The Europeans developed the concept of Nation and equated it with the language spoken by the people of the land. Thus in Europe we discover that most of the nations are organized on the principle of one language –one State –one Nation. The process appears to have continued even up to the last decade of the Twentieth century which witnessed the emergence of two nation states-the Czech republic and the Slav republic out of Czech-Slovakia. India on the other hand has experienced a sense of unity in spite of the multiplicity of languages as well as the absence of a single government most of the times in its history. This clearly indicates that the use of Euro-centric concepts in relation to India can lead to a dead end..

What is true of Politics is all the more true of literary criticism of the recent period .If one were to write about the relevance of Derrida in the contemporary times one would have to necessarily relate it to the notions like WASP or the European tradition of logo-centrtc thought .In many cases these notions are not relevant in the Indian context.

English language and literature appeared on the Indian scene in the initial period of British colonization as well as due to the process of colonization .It is interesting to note that the colonizers thought it prudent to introduce English language and literature on the Indian scene even when English children in British public schools were being educated in Greek and Latin classics. It has to be noted that the so called canon of English literature owes its evolution to the English studies in India.

Naturally enough the dominant feeling among the Indian thinkers and writers with regard to the English literature was that of awe and admiration. This can be said to be the reaction of the colonized to the literary tradition of the colonizers who enjoyed the status of a dominant class and exploited it to the maximum. Knowledge of English was necessarily related to a feeling of superiority due to the inherent dynamics of the colonial situation itself. Traces of this feeling are evident even during the contemporary times in many different ways. This was precisely the objective of Lord Macaulay when he wrote the now infamous minutes which were lateron adopted by the Government of India as a policy in 1835.

On the literary scene it can be seen that the initial euphoria of the introduction of English literature was supported by the euphoria of the romantic feelings and emotions generated by the reading of romantic poetry and the feeling of nostalgia generated by the reading of

Walter Scot novels .These stories generated a feeling of pride and nationalism in the young Indians. In short it can be seen that the basic purpose of uprooting the Indians from their roots was thereby defeated although to some extent it was possible to instill a sense of confidence in the superiority of the English culture and language among the Indian masses. The Indian response to the well calculated plan of introducing English language and literature was thus paradoxical. On the one hand it might have created the army of Raobahaddurs and Raosahebs that the Britishers wanted but on the other we also find that it also led to the emergence of a generation of patriotic Indians exemplified by the likes of Lokmanya Tilak and Dadabhai Navroji.

This is also reflected in the literature of the contemporary times both in the English language as well as in the Indian languages. The most dominant themes in both related to the Indian mythology and history. This is certainly a romantic trait Yogi. Aurovindo Ghosh has characterized the typical Indian patriotic response to the prevalent situation in his 'Renaissance in India.'. For these and similar reasons the romantics were considered to be the ideal poets for a pretty long time in India. The Indians still appear to be having a great deal of affinity for the romantic poets.

This was gradually replaced by a modernist attitude in the first half of the twentieth century. The modernist criticism developed through the critical theories and practices of critics and writers like T.S.Eliot, Virginia Woolf ,James Joyce and F.R.Leavis .In England we have the practical criticism of I.A. Richards which focused on the importance of the textuality of the text . In the practices of I.A.Richards the text attained the status of an autonomous entity which has to be interpreted in the context of what it is rather than any other extraneous factors. These practices made the job of a literary critic a little more demanding in that the critic was required to do it independently of his own prejudices. On the face it appears that this would make the activity of literary criticism fairly objective.

However it does not appear to be the case if one analyses the critical practices of the critics of the period. F.R.Leavis is a case in point. His 'Great Tradition' is considered to be a significant analysis of the tradition of the English novel. However it excludes on his own admission a great and zestful work like Emily Bronte's 'Wuthering Heights'. This exposes the limitation of describing any tradition as a great tradition mainly because it attempts to portray the manners and morals of the English middle classes like Jane Austen novel. It appears that F.R.Leavis is more interested in presenting the tradition as a model rather than analyzing its merits and demerits. As a result he fails to pass a fair judgment on the tradition as a whole. One is tempted to say that this is a result of the colonizer's anxiety to prove his superiority. Unfortunately many of us have not taken the cognizance of these contradictions. The earlier we do the better it is for us.

It can be noted that modernism is a point in history of Indian literature in general where we had the opportunity of breaking the shackles of the colonial tradition. We might have used the opportunity in the political field but we have certainly not been able to use it in the socio-cultural and literary field. If we visualize us to be the key player in the twenty-first century it is imperative for us to do so. .

•••

Forth Coming International Seminar

Mind, Brain and Consciousness

on 14th &15th January, 2010

Introduction

Concepts related to the Mind, Brain and Consciousness have intrigued both philosophers and scientists since time immemorial. While the former have speculated on the nature of mind and put forward many theories of consciousness, the brain as an object of scientific enquiry and how it relates to functions ordinarily subsumed under mind is a relatively recent phenomenon. The emerging body of evidence that the cognitive neurosciences [neurobiology and neurophysiology] and cybernetics are producing cannot but impact our understanding of mind and consciousness and compel us to revise many of our long held theories and convictions. At the same time, many speculative insights of the philosophers regarding mind and consciousness can offer great areas for reflection and experimentation to the neuroscientists. Philosophy of mind is an active, intensely evolving body of knowledge.

The Purpose

This International Seminar is an attempt to psesent the salient reflections/findings of philosophers and scientists on the interconnections between these concepts and evolve an ongoing dialogue between them so a robust body of knowledge serves as a foundation for further enquiry in this intriguing, and vastly unexplored, field. Of course we can feel satisfied much has been done in the realm of reflective thought about mind and consciousness down the centuries by the great masters, including the likes of Plato, St. Augustine, Descartes [all three on mind-body dualism, and Descartes on 'mental substance' '*pensee*' or reflexive consciousness, and Interactionism]; Locke [rejecting 'mental substance']; Hume ['bundle concept'], Kant [critique of associationist approaches and stress on 'phenomenal consciousness'], Berkeley [Idealism as in *Principles of Human Knowledge*, 1710]; Leibniz [Parallelism]; Spinoza, Gustav Fechner and W.K. Clifford [Double-Aspect Theories] as also Herbert Spencer and P.F. Strawson; William James ['stream of consciousness], Brentano ['intentionality']; Cabanis and older masters [Epiphenomenalism]; Vienna Circle, especially Otto Neurath and Rudolf Carnap [physicalism or extreme materialism]; Edmund Husserl, Martin Heidegger and Maurice Merleau-Ponty [phenomenology]; J.J.C. Smart and H. Feigl [Identity theory]; Russell ['sensibilia']; A.J. Ayer [a type of neutral monism in *Language, Truth and Logic*, 1936] ; Geulincx and Malebranche [Occasionalism]; Gilbert Ryle ['the ghost in the machine' in *The Concept of Mind].* There will be occasion to review their work in this seminar.

A lot has being done in the neurosciences by the scientists, especially K.S. Lashley [removal and study of animal brain parts]; H. -L. Tauber [war time brain damage study by EEG and PEG]; W.G. Penfield [direct stimulation of patient's brain]; Eric Kandel, Paul Greengard and E. Carlsson [Microstructures necessary for learning, memory and effect of psychoactive substances; Nobel Laureates, 2001]; R. Axel and L.B. Buck [genes, protein receptors and odour recognition; Nobel Laureates, 2004]; and the vast body of work by different neuroscientists on the neurotransmitters, especially the biogenic amines, aminoacids, neuropeptides etc. There are so many others, and the neurosciences are teeming with research work.

But precious little is being done to integrate the vast body of knowledge that already exists about these three concepts in these independently progressing branches of philosophical thought and scientific experimentation.

This seminar is a step to help the process of such integration.

Mind and Consciousness

This Seminar will attempt to review and present classical and modern concepts and theories about Mind and Consciousness, including the Mind-Body or Body-Mind problem; the idealist and materialist views about

mind; the identity, the computational and double aspect theories of mind; monistic and dualistic theories of mind; as also interactionism, epiphenomenalism, structuralism, reductionism, materialism, occasionalism, neutral monism, functionalism, psychophysical parallelism etc. The concept of mind in Indian thought needs a careful and detailed exposition for which a theme session/workshop is proposed.

The philosophy of mind is intimately connected with the philosophy of action. Therefore, concepts like free will, motive, intentions, cognition, volition, feelings, and also ethical issues related to these are of abiding interest, and also of concern in this seminar. Questions related to cognition like perception, sensation, insight, intuition, judgement, as also thought, reasoning, and the notions of doubt, inference, reasoning, logical thinking and how these are connected to our understanding of the mind and its connectedness with evidences from research in the neurosciences will also be of interest in this seminar.

The problem of Consciousness needs to be connected with that of the Mind, but not only our philosophical understanding of the Mind but the emerging evidence from brain research. The various metaphysical positions like the dualist and physicalist theories, and the specific ones like higher-order, representational, cognitive, neural and quantum theories, need to be put in perspective to understand where we stand in our grasp of this complex topic. Qualia, introspection [including the works of the champions of the introspective method as seen in the work of Wilhelm Wundt, Hermann von Helmholtz, William James and Alfred Titchener] and self-knowledge, as aspects of consciousness also need detailed analysis. Creature consciousness and state consciousness, as also the 'state of consciousness' needs close study too. Work in scientific psychology, especially behaviorism (Watson 1924, Skinner 1953), Gestalt psychology (Köhler 1929, Köffka 1935) and, more recently, cognitive psychology with emphasis on modeling internal mental processes and information processing (Neisser 1965, Gardiner 1985) needs critical appraisal. A major resurgence of scientific and philosophical research into the nature and basis of consciousness in the 1980s and 90s with the works of Baars 1988, Dennett 1991, Penrose 1989, 1994, Crick 1994, Lycan 1987, 1996, Chalmers 1996 needs to be critiqued too . Also noteworthy is the emergence of Specialty journals devoted to the study of consciousness (*The Journal of Consciousness Studies, Consciousness and Cognition, Psyche),* as also professional societies (Association for the Scientific Study of Consciousness - ASSC). These exciting developments need to noted in this seminar.

The Brain

The brain is a complex organ, the structural correlate of the mind, center and head of the central nervous and neuro-endocrine systems, whose various areas are yielding fascinating, though rather tardy, information to science and biology. Areas like the cerebrum, which controls higher functions like thought, language, moral and social conduct, creativity, spirituality etc, needs as much study as the limbic system connected with emotions and sexuality, and the neuro-endocrine system which controls an organism's response to stress, emotions, thoughts and feelings. As also various pathological conditions that result from toxic, metabolic, infectious, degenerative and congenital/traumatic conditions of brain pathology, not to forget the great number of neuropsychiatric conditions with hitherto ill-defined aetiology that are the great areas of interest and activity in clinical and research psychiatry/neurology. The emerging vast body of evidential findings from the various neurosciences, including classical psychiatry/neurology, neurobiology, neuropsychology and neurophysiology needs a thorough presentation and a close look if present and future philosophic theorising has to be grounded on solid foundations. The interdisciplanary field of Cognitive Neuroscience which connects the sciences of the brain [Neurosciences] with the sciences of the Mind [Cognitive Science] needs a special and careful look. Nero-imaging and ionic/molecular processes studies are yielding facinating information of brain function that philosophers of Mind can ill afford to ignore. The presence of neuroscientists and a close look at their findings will be a special feature of this Seminar.

Workshops

Two workshops, one on 'Mind and Consciousness' [21 Aug, 2009], and another on 'Brain and Consciousness' [27 Nov, 2009] will set the trend for the International Seminar to follow. A feature of the first workshop will be a close look into the concept of mind in classical Indian Philosophical systems.

The Goal, And Bridging the Gap

The attempt will be to bring together scholars and intellectuals from these diverse streams and evolve a body of knowledge that will further our quest in this intriguing but still largely inscrutible area of philosophical/ scientific enquiry.

Philosphers intimately connected with study of mind and consciousness may know little of brain research. Scientists intimately connected with study of structure and function of the brain may know little about the various theories of mind and consciousness that have engaged philosophers down the centuries, and even actively engages them today. The attempt here is to bring the two bodies of researchers together to evove a corpus of knowledge that will be mutually beneficial and, hopefully, more than the sum of its parts.

The possibilty of opening up new areas of research and throwing up new questions for future research, as well as helping contemporary researchers reorient/ rethink their present positions/convictions is an exciting possibility.

Hence this seminar.

Critiques and reviews of established positions and theories are welcome, but original contributions are equally encouraged.

Often, the philospher harbours a notion the brain research will only touch the fringe of our understanding of mind and consciousness. And often, brain scientists believe that philosophers indulge in speculation devoid of emperical evidence and hence 'talk out of their hat'. The attempt to bring the two together will hopefully dispel these notions and prejudices, and promote much needed respect for each other and a dialogue and serious study of each others' work. This will add incrementally to the body of knowledge in the respective fields, as well as in interdisciplinary studies, besides being personnal eye openers for individual researchers.

Hence also this seminar.

•••